International Journal of Geology, Agriculture and Environmental Sciences (peer reviewed journal)
Volume – 9 Issue – 1 January-June 2021 (Special Issue)
Website: www.woarjournals.org/IJGAES *ISSN: 2348-0254*

प्राचीन भारतीय कर व्यवस्था का समीक्षात्मक विश्लेषण

डॉ. रविन्द्र कुमार
सहायक आचार्य, इतिहास विभाग
महारानी बालिका पी. जी. महाविद्यालय,रामपुरा अलसीसर झुन्झुनूं

राजस्व का इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितना राज्यों एवं राजाओं के उदय का इतिहास। पूर्व ऐतिहासिक काल में लोग शिकारी एवं भोजन इकट्ठा करने वाले थे, इसलिए उनके सामने बहुत कम समस्याएं थी। उनका जीवन अव्यवस्थित था। उनके पास व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होती थी। जो वस्तुएं उनके पास थीं वे सम्भवतः सम्पूर्ण समाज से सम्बन्धित थी। ना कोई राज्य था और ना ही राजा। सभी प्रकार की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याएं उनके अपने समाज द्वारा हल कर ली जाती थी। धीरे–धीरे जनसंख्या बढ़ी। बहुत सी सामाजिक और आर्थिक समस्याएं पैदा हुई। इसलिए उनके लिए श्रम विभाजन आवश्यक हो गया। कई प्रकार के कार्य प्रारम्भ हुए। भोजन जुटाना, औजार बनाना आदि। आन्तरिक एवं बाह्य खतरों के समय उन्हें भूखा मरना पड़ा। इसने उनको आपातकालीन समय के लिए भोजन इकट्ठा करने के लिए मजबूर किया।

यहीं से व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना का उदय हुआ। लेकिन राजस्व की भावना का उदय अभी नहीं हुआ था। क्योंकि इस समय की सार्वजनिक सम्पत्ति सम्भवतः जानवरों के रूप में बटी हुई थी तथा जानवरों को लम्बे समय तक रखना सम्भव नहीं था, क्योंकि महामारी के समय जानवर मर जाते थे। जैसे–जैसे समय गुजरा उन्हें अधिक अनुभव प्राप्त हुए।

नवपाषाण काल में उन्होनें कृषि का प्रारम्भ किया। इस समय वे फसलों एवं जानवरों को सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप में एकत्रित कर रहे थे।

सैधव काल में सार्वजनिक सम्पत्ति का स्वरूप विकसित होता हुआ प्रतीत होता है। मोजनजोदडो से प्राप्त अन्नागार का अन्न व्यक्तिगत सम्पत्ति का बोधक माना जा सकता है, लेकिन साहित्यिक साक्ष्यो के अभाव में यह कहना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होताकि सैधव काल में राजस्व की कल्पना का प्रारम्भ हो चुका था।

ऋग्वैदिककाल में राज्य एवं राजा दोनों का अस्तित्व था। ऋग्वैदिक आर्यों का समाज अनेक कबीलों (जनों) के रूप में संगठित था। कबीले के लोगों ने अपने में से सबसे शक्तिशाली व्यक्ति को अपना राजा चुना। राजा अपने कबीले की रक्षा करता था और अन्य कबीलों के विरूद्ध युद्ध में विजय प्राप्त करता था। बदले में कबिले के लोग अपने राजा को अनाज पशु आदि के रूप में स्वैच्छिक अंशदान करते थे। इसलिए राजा को **बलिहृत**[1] कहा गया है और इस स्वैच्छिक अंशदान को बलि कहा गया है। इसकी पुष्टि ऋग्वेद के एक मन्त्र से होती थी, जिसमें राज्याभिषेक के सन्दर्भ में कवि यह प्रार्थना करता हुआ पाया जाता है कि इन्द्र प्रजाजनों (विशों) से राजा को बलि दिलवाये।[2] **जीमर** का मानना है कि यदि बलि ऐच्छिक अंशदान न होकर कानून द्वारा नियत आय होती तो उपर्युक्त कथन अर्थहीन होगा।[3] दूसरी ओर मैकडॉनल और कीथ का मानना है कि बलि प्रारम्भ से ही एक नियमित कर था, क्योकि छोटे कबिलाई राज्य भी स्वैच्छिक चन्दों से नहीं चल सकते थे।[4] लेकिन आदिम समाजों के विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया[5] को देखते हुए यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि बलि जिसका स्वरूप प्रारम्भ में ऐच्छिक था, आगे चलकर अनिवार्य भुगतान में परिणत हो गई।

हमारा मानना है कि स्थिति दोनों के बीच की थी। इस काल में बलि नियमित कर का रूप तो नहीं ले पाया, लेकिन इसमें कुछ बाध्यता अवश्य नही होगी।

ऋग्वेद में ऐसे उद्धरण भी मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता हे कि जिन 'जनो' (कबीलों) को युद्ध में पराजित किया जाता था, उन्हें बलि या भेंट देने के लिए विवश किया जाता था।[6] इसकी पुष्टि ऋग्वेद के एक मन्त्र से होती है, जिसमें अग्नि को सम्बोधित एक सूक्त[7] में देव की उपलब्धियों की प्रंशसा करता हुआ कवि कहता है कि उसने राजा नहुष को बलि देने के लिए प्रजाजनों को बाध्य किया। इन्द्र को सम्बोधित एक अन्य सूक्त[8] में देवों द्वारा प्राप्त एक विजय के सन्दर्भ में कहा गया है कि तीन विशिष्ट नामांकित देशों ने घोड़े का सिर बलि के रूप में उसे दिया था। इन अवतरणों से स्पष्ट है कि राजा द्वारा विजित शत्रुओं से बलपूर्वक कर ग्रहण का निर्देश दिया गया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि विजय में घोडे का सिर बलि के रूप में दिया जाता था।[9]

इस प्रकार ऋग्वैदिक काल में राजा के कबीले के लोग अपनी इच्छा से बलि 'कर' देते थे, और पराजित शत्रुओं को बलि देने के लिए विवश किया जाता था।[10] एक उपमा में ऋग्वेद में राजा को प्रजा को खा जाने वाला[11] कहा गया है, इसका अर्थ प्रजा पर अत्याचार करने वाला नहीं है, अपितु इसका अभिप्रायः यह है कि राजा अपने व्यय के लिए प्रजा पर निर्भर होता है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जैसे–जैसे राज्य की संस्था स्थापित हुई तथा राज्य की आधारशिला स्थापित हुई। वैसे–वैसे राजा की व्यवस्था के लिए राजस्व के महत्व को महसूस किया गया है।

वैदिक कल्पना के अनुसार जहाँ राजा कर प्रक्रिया द्वारा प्रजा से धन का संग्रह करता था, वहीं अत्यन्त उदारतापूर्वक समय पर वितरण भी करता था। ऋग्वेद में धन के वितरण के सम्बन्ध में कहा गया है कि सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए धनी वर्ग के लोगों को चाहिए कि वे गरीबों में धन को बाँट दें, यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनसे धन को छीन कर बाँट देना चाहिए।

इस दृष्टि से वह प्रसंग दृष्टव्य है, जहाँ इन्द्र के पास एकत्रित धन राशि को विभिन्न वर्गों में बाँटने की चेष्टा का वर्णन किया गया है। अतएव इन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि ''जो इन्द्र हविदाता को मनुष्यों के उपभोग्य पदार्थों को भेजते हैं, वह हमको भी दे। हे इन्द्र! तुम्हारे पास अनन्त धन है, उसे बाँट डालों, मै भी तुम्हारे धन में भाग प्राप्त करूँ।''[12] इस उदाहरण से स्पष्ट है कि धन के समान वितरण की व्यवस्था हेतु उस समय भी प्रयत्न किये जाते थे। एक अन्य स्थान पर लालची, अकर्मी तथा दुष्टों के धन को छीनकर बाँटने की भी कल्पना की गई है।[13]

ऋग्वेद में कर की मात्रा के विषय में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। ऋग्वेद[14] की एक ऋचा से ज्ञात होता है कि वायु जैसे जल पीता है, वैसे ही तुम (वेश्वानर) प्रजा से (कर के रूप में प्राप्त) ऐश्वर्य को पाते हो। इसका अर्थ है कि राजा को अपनी प्रजा से उतना ही कर वसूल करना चाहिए जिससे कि उसको जरा भी कष्ट न हो।

ऋग्वैदिक राजस्व प्रशासन के विषय में कोई प्रमाणिक जानकारी नहीं मिलती है। इस सन्दर्भ में केवल यही सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि ऋग्वेद में उल्लेखित ग्रामिणी का सम्बन्ध राजस्व से रहा होगा। निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल में राजस्व व्यवस्था का प्रारम्भिक रूप दिखाई देता है, लेकिन साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि इस काल में लोग सामान्य उत्तरदायित्व के रूप में नियमित कर अदायगी के अभ्यस्त नहीं हुए थे। समय व्यतीत होने के साथ लोग राजस्व की महत्ता को समझने लगे, ताकि राजा से सुरक्षा प्राप्त की जा सके।

उत्तरवैदिक काल में जन, जनपद में परिवर्तित हो गये। इसलिए अब राजा जन के साथ–साथ निश्चित प्रदेश का भी अधिपति हो गया। इस काल में राज्यों के आकार में वृद्धि, विस्तारवादी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए कुशल सैन्य संगठन की आवश्यकता तथा कुशल प्रशासनिक तन्त्र के संचालन आदि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राजा को अधिक राजस्व की आवश्यकता महसूस हुई, फलस्वरूप उत्तरवैदिक काल में अपेक्षाकृत राजस्व संगठन का विस्तार परिलक्षित होता है।

अथर्ववेद में राजस्व व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश डाला गया है, बलि का अथर्ववेद में खूब प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद के एक सूक्त से यह स्पष्ट होता है, ऋग्वैदिककाल काल में बलि, जिसे स्वैच्छिक अंशदान माना जाता था, वह अब प्रजा के लिए अनिवार्य अंशदान बन गया।[15] दूसरे स्थान पर अथर्ववेद में वर्णन मिलता है कि प्रजा द्वारा राजा को अपनी सम्पत्ति का 1/16 भाग देना चाहिए।[16] लेकिन यहाँ बलि के स्थान पर शुल्क का प्रयोग किया गया है। यू. एन. घोषाल[17] के अनुसार जहाँ तक नियत दर 1/16 का सम्बन्ध है, वह निःसन्देह परवर्ती काल में राजा द्वारा सामान्यतः प्राप्त उत्पादन के 1/6 भाग से कही कम है, किन्तु यह बात निश्चय ही इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि प्रजाजनों को अपनी सम्पत्ति का एक नियत अंश कर के रूप में राजा को देना पड़ता था।

अथर्ववेद का तीसरा अवतरण राजस्व के कई निश्चित स्रोतों की ओर संकेत करता है।[18] राज्याभिषेक समारोह के सन्दर्भ में इन्द्र को सम्बोधित एक सूक्त में हमे यह दृष्टिगत होता है कि हे इन्द्र! इस मनुष्य को ग्राम, घोड़ों (और) गाय–बैलों का भागीदार बना, इसके शत्रु को भाग से वंचित कर, यह राजा क्षत्रियों में श्रेष्ठ हो, इसके शत्रुओं को इसका वशवर्ती बना।19 इससे सूचित होता है कि राजा की आय (पहले से ही) कृषि की उपज के एक अंश और ग्रामों से प्राप्त पशुओं के अंशदान से होती थी और क्रमशः उत्तरकालीन भाग अथवा बलि और पशुकर के साथ इसका साम्य स्थापित किया जा सकता है। इसी सूक्त में आगे कहा गया है कि हे सिंह! प्रतीक, तुम समस्त विशों को खाओं, हे व्याघ्र प्रतीक तुम शत्रुओं को निरस्त करो, हे इन्द्र के मित्र एकराट् तुम विजय होकर अपने शत्रुओं के भागों को अधिगम कर लो।

राजा को अपने विशो (प्रजाजनों) का भक्षक घोषित करने वाली इस प्रभावी शब्दावली में सम्भवतः हम इस तथ्य का नवीन साक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं कि प्रजा का अंशदान अब निश्चित रूप से अनिवार्य हो गया था।[20] छान्दोग्य उपनिषद में भी बलि शब्द का उल्लेख मिलता है, जो कि राजा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वैच्छिक या नियमित अंशदान की निरन्तरता को दर्शाता है।

उत्तरवैदिक काल में बलि के अतिरिक्त शुल्क एक ऐसा कर था, जो कृषकों से लिया जाता था। यह कहा गया है कि स्वर्ग में शक्तिशाली लोग निर्बलों से शुल्क नहीं प्राप्त करते।[21] यह प्रदर्शित करता है कि इस प्रकार का कर शक्ति के माध्यम से इकट्ठा किया जाता था जो लोग इसे देते थे, निर्बल समझे जाते थे, तथापि निर्बलों के लिए इस कर से दूसरे जगत में मुक्ति की भी सम्भावना थी। परन्तु यह इस बात पर आधारित था कि वे इस संसार में नियमित रूप से कर देते हैं और ब्राह्मणों को अपने याज्ञिक उपहार देते हैं। परन्तु ब्राह्मण को शुल्क (इसका शाब्दिक अर्थ मूल्य) से मुक्त घोषित किया गया है, तथा उस राजा की जो ब्राह्मणों से इस प्राप्त करने की इच्छा रखता है, तीव्र भर्त्सना की गई है।[32]

ब्राह्मण ग्रन्थ तथा उनके समकालीन साहित्य से राजस्व व्यवस्था का विकास परिलक्षित होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा अथवा क्षत्रिय को प्रायः अपनी प्रजा का भक्षक बतलाया गया है, लेकिन शतपथ ब्राह्मण इससे भी अधिक कहता है कि प्रत्येक चीज राजा के लिए भोजन थी। ब्राह्मण उसका भक्ष्य नहीं (अनछ) है, क्योंकि उसाक राजा सोम है।[23] स्पष्ट है कि ब्राह्मणों ने पहले ही कर से मुक्ति का दावा जताना प्रारम्भ कर दिया था, जबकि वैश्यवर्ग, जो खेतिहार आबादी का एक बहुत बड़ा भाग था, को कराधान के बोझ का सामना करना पड़ता था। शतपथ ब्राह्मण में ही एक अन्य स्थल पर एक छोटे व्यक्ति द्वारा एक श्रेष्ठ व्यक्ति के पास और वैश्य वर्ग के सदस्य द्वारा राजा के पास बलि ले जाने की तुलना की गई है।[24] इससे स्पष्ट होता है कि अब बलि राजा और उसकी प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध का एक आवश्यक प्रतीक बन गई थी।

उत्तरवैदिक साहित्य में हमें राजस्व प्रशासन की भी जानकारी मिलती है, पंचविश ब्राह्मण आठ अधिकारियों की चर्चा करता है, जो राजा के सहायक थे। इस सूची में संग्रहीता नामक एक अधिकारी का भी समावेश है।25 यजुर्वेद संहिताओं और ब्राह्मणों में रत्नीन की ऐसी ही एक सूची मिलती है, जिसमें न केवल संग्रहीता अपितु भागदूध का उल्लेख भी मिलता है।[26] सम्भवतः ये अधिकारी राजस्व विभाग से सम्बन्धित थे।[27] इनमें से भागदूध कर एकत्रित करता था जबकि संग्रहीता उस कर को भण्ड़ारों एवं कोषों में संचित करता था। स्वर्ण के उपयोग के बावजूद उत्तरवैदिक समाज एक मुद्राहीन समाज था, जिसमें कर केवल वस्तुओं के रूप में ही एकत्रित किया जाते थे। ऋग्वैदिक काल में राजा को दिये जाने वाले स्वैच्छिक अंशदान की सूची में गाय, बैल, घोड़े तथा दासियाँ सम्मिलित थी, इसके विपरीत उत्तरवैदिक काल में इस सूची में हाथी, स्वर्ण, चांदी विभिन्न प्रकार के अनाज व कपड़े जुड़ जाते हैं।

उत्तरवैदिक काल में नियमित अधिकारियों का अस्तित्व, उनके द्वारा कर एकत्रित करने तथा उसके शाही खजाने में जमा कराने के प्रबल प्रमाण मिलते हैं। इससे यह प्रदर्शित होता हे कि इस काल में राजा राजस्व के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार के संगठन बनाने की कोशिश कर रहा था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इस काल में राजस्व विभाग का संगठन प्रारम्भ हो गया था।

महाजनपद काल में लोहे वाले हलों का प्रयोग तथा धान की बुआई से अतिरिक्त उत्पादन में वृद्धि हुई, जिसके कारण राजस्व प्रणाली का विकास सम्भव हुआ। जिसकी जानकारी जातकों से मिलती है। जनपदकालीन लोगों को यह आभास था कि सरकार के कार्य पूरी तरह तब तक सम्भव नहीं हो सकते, जब तक कि कर प्रणाली को विकसित नहीं किया जाता। दूसरे शब्दों में धन राज्य के सभी कार्यों का आधार होता है। यद्यपि जातकों में कराधान के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट सिद्धान्तों का उल्लेख नहीं मिलता है, लेकिन फिर भी कोष तथा कोषागार की महत्ता स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होती है।[28]

जातको29 में राजस्व के अनेक स्रोतों यथा – भूराजस्व, उद्योगों, जंगलों, व्यापार एवं वाणिज्य द्वारा कर, जुर्माना, लावारिस सम्पत्ति और स्वैच्छिक अंशदान आदि का उल्लेख मिलता है।

इस समय भू–राजस्व ही राज्य की आय का प्रमुख साधन माना जाता था। इसलिए राज्यों में भू–राजस्व के संग्रहण के लिए अनेक मापदण्ड़ो को अपनाया। प्रत्येक राज्य ग्राम (गाम), जनपद एवं निगम[30] में बंटा हुआ था। इनके अधिकारी कर वसूलते थे। ये अधिकारी केन्द्र सरकार के सीधे नियन्त्रण में थे। केन्द्र में इसके लिए एक अलग विभाग की स्थापना की गई थी। भू–राजस्व को राजा के भाग के रूप में माना जा सकता था। यह भूमि का कानून बन चुका था तथा वस्तु के रूप में दिया जाता था। जातकों में यह उल्लेख नहीं मिलता है कि राजा को भू–राजस्व का कितना भाग प्रजा से लेना चाहिए। महावस्तु के अनुसार राजा को उत्पादन का 1/6 भाग भू–राजस्व के रूप में लेना चाहिए। सामान्यतया इस काल में भू–राजस्व की दर 1/6 थी। लेकिन यह सम्भवतः 1/12, 1/10, 1/8 और 1/6 के मध्य रहती थी, लेकिन आपातकाल में यह 1/4, 1/3 तक भी हो जाती थी।[31] भू–राजस्व का निर्धारण उत्पादन लागत, विक्रय मूल्य तथा मिट्टी की प्रकृति को ध्यान में रखकर किया जाता था।[32] भू–राजस्व को घटाना, बढ़ाना राजा पर निर्भर करता था।[33] कर में अत्याचार[34] एवं कठोरता[35] का भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार वैदिककाल की तुलना में इस काल की राजस्व व्यवस्था एक कदम आगे प्रतीत होती है।

जहाँ वैदिककाल में राजस्व अधिकारियों के रूप में केवल भागदुध एवं संग्रहीता का उल्लेख मिलता है, वही इस काल में लगभग आधे दर्जन अधिकारियों का उल्लेख मिलना प्रारम्भ हो जाता है, जो कर–संग्राहक का कार्य करते थे। इस काल में राज्य में भू–राजस्व को एकत्रित करने तथा इसका निर्धारण करने के लिए अनेक अधिकारियों की नियुक्ति की गई थी।[36] जातकों में इससे सम्बन्धित तीन अधिकारियों का उल्लेख मिलता है, जो कि रज्जूगाहकअमाच्य[37], सेट्ठी[38] द्रोणमापक महामात्र[39] कहलाते थे। गाँव से केन्द्रिय स्तर तक का राजस्व प्रशासन केवल इन तीन अधिकारियों द्वारा नियन्त्रित होता था।

रज्जुगाहक अमाच्य का अर्थ छड़ी रोपने वाले मंत्री से किया जाता है। व्यूलर जातकों में उल्लिखित रज्जुगाहक अमाच्य की तुलना ब्रिटिश भारत के भू–भाग राजस्व निर्धारण अधिकारी से करता है तथा इस बात का संकेत करता है कि जमीन का लगान निश्चित करने के लिए भूमि की माप की जाती थी।[40] **फिक्** का अनुमान है कि भूमि की माप इसलिए की जाती थी कि जिससे प्रजा द्वारा राजा को दी जाने वाली औसत उपज को निर्धारित किया जा सके।[41] पर भूमि नापते समय रज्जुगाहक अमाच्य सतर्क रहता था कि ऐसा कोई कार्य न हो जिससे राज्य अथवा कृषक को कोई हानि हो।[42] इसकी पुष्टि एक जातक कथा[43] से होती है कि भूमि को नापते समय उसने केकडे के छिपने के स्थान को छेद को देखा जहाँ वह लकड़ी दबाना चाहता था, लेकिन उसने सोचा कि यदि लकड़ी छेद में डाली जाये तो केकड़े को चोट लगेगी तथा यदि दूसरे ओर रोपी जाए तो राजा की सम्पत्ति को हानी होगी। इससे यह सिद्ध होता है कि रज्जु गाहक अमाच्य द्वारा भूमि का माप भू–राजस्व के निर्धारण के उद्देश्य से किया जाता था।

इस प्रकार जातकों में विवरण मिलता है कि भूमि निश्चित सीमाओं द्वारा चिन्हित कर आवंटित की जाती थी।[44] तथा इसे रज्जुगाहक अमाच्य द्वारा मापा जाता था, जो कि भूमि की उपज का मूल्यांकन कर राजा के हिस्से का निर्धारण करता था।[45]

द्रोणमापक महापात्र राजा के हिस्से का कर एकत्रित कर उसे राजा के गोदामों से इकट्ठा करता था। सेट्ठी खड़ी फैसल के मूल्य का निर्धारण करता था।

द्रोणमापक ईमानदार और व्यवहारिक होता था। **दीक्षितार** के अनुसार द्रोणमापक मुख्य कर संग्राहक होता था। **इसकी तुलना आधुनिक काल के वित्त मन्त्री से की जा सकती है।**[46] इसका मुख्य कर्त्तव्य राजस्व एवं कोषागार की देखभाल करना था।

इस समय बलिपटिग्गाहक[47], बलिसाधक[48], निग्गाहक[49], तुण्डिय[50] और अकासिय[51] नामक कर संग्राहकों का भी उल्लेख मिलता है।

करों के सम्बन्ध में इस समय गाँव दो भागों में बंटे हुए थे – एक जिसका पूरा राजस्व राजा लेता था तथा दूसरा जिसका राजस्व ग्रामभोजक लेता था। तथा एक भाग राजा को देता था। ग्रामभोजक की मदद के लिए राज्य द्वारा एक कलेक्टर नामक अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी, इसकी एवज में केन्द्र सरकार को कुछ अंशदान देते थे।[52]

इस युग में कर संग्राहकों की क्रूरता के संकेत भी मिलते हैं। सम्भवतः यही कारण है कि इस समय एक भी शब्द इनके प्रति प्रशंसा तथा सहानुभूति के नहीं मिलते हैं।[53] लोग इन अधिकारियों से इतने डरे हुए थे कि ये हमेशा उनके घरों को स्वयं दूर रखने को प्राथमिकता देते थे। लोग दिन में इन शाही अधिकारियों से भयभीत रहते थे तथा रात को इनको चोरों का डर सताता था।[54]

भाण्डागारिक[55] भी राजस्व प्रशासन का एक महत्वपूर्ण अधिकारी था। सम्भवतः वह खजान्ची था, यह सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी माना जाता था।

इस प्रकार जनपद काल में अपेक्षाकृत एक पर्याप्त संगठित राजस्व व्यवस्था मिलती है, जिससे राजा के नातादारों, भाई बन्धुओं का प्रबल प्रभाव दिखाई नहीं देता है। यह व्यवस्था निश्चय ही उत्तर वैदिक काल की तदर्थ, अनियमित तथा रीत्यानुसार कर संग्रह की तुलना में महत्वपूर्ण प्रगति थीं। उत्तरवैदिक काल में राजा के कुछ सम्बन्धी मुख्य कर संग्राहकों तथा कुछ कदाचित दूर के सम्बन्धी करदाता होते थे, और कर दाताओं में उन सभी कबिलों के लोग आते थे, जो महाजनपद में बस गये थे, और किसान बन गये थे।

इस काल में राजा उद्योगों, व्यापार–वाणिज्य से भी राजस्व प्राप्त करता था। एक जातक में उल्लेख मिलता है कि व्यापारियों पर कर राजा द्वारा लगाया जाता था, लेकिन इस कर को अधिकारियों द्वारा निश्चित किया जाता था। लेकिन कर की दर तथा अधिकारी जिन्होंने करों को एकत्रित किया उनका उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यह कर भी भू–राजस्व अधिकारियों द्वारा वसूल किया जाता था।

शहर के प्रमुख द्वारों से भी राजस्व प्राप्त होता था। महामगग, जातक में उल्लेख मिलता है कि राजा उस बुद्धिमान मंत्री से अत्यधिक प्रसन्न होता था, जो चारो द्वारों की चुंगी एकत्रित कर राजा को देता था।[56]

राज्य को जुर्माने से भी आय प्राप्त होती थी।[57] इसके अतिरिक्त बिना उत्तराधिकारी के मर जाने पर वह सम्पत्ति राज्य की हो जाती थी।

इस प्रकार उत्तर वैदिक काल की तुलना में जनपद काल में राज्य ने राजस्व की वृद्धि के लिए अनेक उपायों का सहारा लिया। इन साधनों को अपनाने में प्रशासनिक ढाँचों को चलाने तथा आय के स्थायी साधनों को बनाने में सहायता मिली, विनयपिटक[58] के अनुसार राजा ने पर्वतों, नदियों, स्नानागरों तथा गाँव के द्वारों पर सीमा शूल्क गृह बनवाये। शहर के चारों द्वारों पर चूंगीघर स्थापित थे, जहाँ पर आयातित सामान पर चुंगी लगायी जाती थी। चुंगी गृह को संकधान या शुल्कशाला[59] कहा जाता था। राजगृह के चुंगी घर पर एक स्वचालित घण्टी थी जो व्यापारी उससे होकर गुजरता था, तो वह स्वयं बजने लगती थी।[60] इससे यह सिद्ध होता है कि इस काल में कराधान व्यवस्था का कितना विस्तार हो चुका था। लेकिन इस काल में शक्तिशाली श्रेणियों द्वारा राज्य के मामलों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करने के कारण एक सुदृढ़ राजस्व व्यवस्था की स्थापना नहीं हो सकी थी।

प्राचीन भारत की राजस्व व्यवस्था को एक सुदृढ़ आधार मौर्यकाल में मिलता है। इस युग में अर्थशास्त्र, धर्मसूत्र साहित्य के साथ हम राज्य की आय के विभिन्न अंगों तथा उसके क्रियान्वयन के तरीकों और सिद्धान्तों के सम्बन्ध में प्रबुद्ध चिन्तन के युग में प्रवेश करते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विवेचित राजस्व व्यवस्था में परिवर्ती काल में परिवर्द्धन एवं संशोधन होता है, जिससे हम मौर्यकाल से गुप्तोत्तर काल तक की राजस्व व्यवस्था की सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत करने में समक्ष होते हैं। मौर्यशासक यह भली–भाँति जानते थे कि देश के सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक विकास के लिए एक सुदृढ़ राजकोष आवश्यक है, इसलिए उन्होने वार्ता के विज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान दिया। कौटिल्य[61] ने वार्ता क महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा है कि **वार्ता** (कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य से सम्बद्ध विद्या) अत्यन्त उपयोगी है, क्योकि यह धान्य पशु, स्वर्ण कच्चे माल तथा बेगार के रूप में अंशदान उत्पन्न करती है। कोष और सेना के माध्यम से वार्ता के द्वारा ही राजा अपने तथा अपने शत्रु पक्ष के लोगों को नियन्त्रित करता है। कौटिल्य ने वार्ता को राजकोष का मूल माना, उसके अनुसार राजा वार्ता के ज्ञान के बिना अपना राजकोष समृद्ध नहीं कर सकता और बिना राजकोष की समृद्धि के राज्य के विभिन्न क्रिया–कलाप सुचारू रूप से संचालित नहीं हो सकते। **इस प्रकार कौटिल्य का उपर्युक्त अवतरण वित्तीय सिद्धान्त को आधुनिक अर्थशास्त्र से सम्बद्ध करता प्रतीत होता है।**

कौटिल्य ने देश के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक विकास के लिए सप्तांग सिद्धान्त[62] का प्रतिपादन किया। इन सप्तांगों की सूची में राजा, अमात्य (मंत्री) मित्र, दुर्ग, क्षेत्र तथा सेना के साथ कोष को इस सूची पर पाँचवें स्थान पर रखा। इससे यह स्पष्ट होता है कि मौर्य शासकों ने राज्य के लिए सुदृढ़ कोष बनाने पर बल दिया। कौटिल्य का मानना है कि कोष के बिना सेना भी नहीं रखी जा सकती, अर्थात् सेना का अस्तित्व कोष पर निर्भर है।[63] **इस प्रकार मौर्य शासकों ने सुदृढ़ राजकोषीय नीति तथा समृद्ध खजाने के महत्व को प्रतिबिम्बित किया, जो कि वर्तमान में भी समिचीन प्रतीत होता है।**

मौर्यकाल में नये आर्थिक दृष्टिकोण का विकास हुआ। कौटिल्य लिखते हैं कि ''जो मुर्ख धन पाने के लिए ग्रहों की पूछताछ करता है, उसे कदापि धन प्राप्त नहीं होता। धन का ग्रह तो धन ही है। उसमें तारे क्या करेंगे। धन से धन खींचा जाता है, जैसे हाथी से हाथी खींचा जाता है, जिसके पास धन नहीं होता, वे कभी धन प्राप्त नही कर सकते।''[64] इस प्रकार समाज में अर्थ की प्रधानता और महत्ता बढ़ी। इस अर्थवादी दृष्टिकोण ने पूरे समाज को प्रभावित किया। **आधुनिक आर्थिक युग में तो अर्थ समस्त क्रियाओं का मूल माना जाता है।**

प्राक् मौर्यकाल में राज्यों का उत्तरदायित्व अपने देश को विदेशी आक्रमणों से बचाना एवं आन्तरिक सुरक्षा की व्यवस्था करना पड़ता था, उसके लिए वे थोड़ी मात्रा में या तो करों द्वारा लोगों से धन एकत्रित कर लेते थे, या लोग स्वयं ही राज्य के इस कार्य के बदले में अपना अंश 'बलि' के रूप में प्रदान कर देते थे। परन्तु मौर्यकाल को हम एक कल्याणकारी राज्य के रूप में पाते हैं, जहाँ आवश्यक कार्यों के साथ–साथ राज्य के अनेक ऐच्छिक कार्य भी सम्मिलित थे। **अतः इस काल में राज्य का आर्थिक विषयों में अधिक हस्तक्षेप दिखाई देता है।**

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ऐसे अनेक साधनों का उल्लेख मिलता है, जिनके द्वारा राजकीय आय में वृद्धि होती थी, उसके अनुसार देश और काल को ध्यान में रखकर ही लोगों पर कर लगाने चाहिए, क्योंकि वह भली–भाँति जानता था कि राज्य को कर तभी मिल सकता है जब प्रजा पर्याप्त उत्पादन करे।[65] उसके अनुसार राजा को प्रजा से उतना ही कर लेना चाहिए जितना वह सरलता से दे सके।[66] ऐसा न हो कि राज्य इतना अधिक कर लगा दे कि प्रजा के पास उत्पादन के लिए ही धन न बचे। जिस प्रकार माली पके हुए फल को उद्यान से तोड़ता है और ग्वाला गाय को दुलार करके दुग्ध निकालता है, उसी प्रकार राजा को कर वसूल करना चाहिए। **आधुनिक कर का वित्तीत सिद्धान्त और कर योग्यता का सिद्धान्त इन्हीं विचारों पर आधारित है।**

मौर्यकाल में भी राज्य के आय का प्रमुख स्रोत भूमिकर था। कौटिल्य के अनुसार भूमि दो प्रकार की थीं। राजकीय भूमि से होने वाली आय को सीता कहा जाता था, जबकि लोगों की निजी भूमि से होने वाली आय को भाग कहा जाता था। कौटिल्य के अनुसार राजा को सामान्यतः प्रजा से उपज का 1/6 भाग

ही कर के रूप में लेना चाहिए।[67] परन्तु आपातकाल में उपज का 1/3 भाग या 1/4 भाग भी कर के रूप में ले सकता था। भू–राजस्व भूमि के उपजाऊपन के आधार पर निर्धारित किया जाता था। विशेष परिस्थितियों में भू–राजस्व में छूट भी दी जाती थी जैसा कि लुम्बिनी गौतम बुद्ध का जन्म स्थान होने के कारण अशोक ने वहाँ भू–राजस्व करम करके 1/8 भाग कर दिया। दुर्भिक्ष की स्थिति में राजा भू–राजस्व वसूल नहीं करता था।[68] इस प्रकार भू–राजस्व निर्धारण से पूर्व भूमि का सामान्य सर्वेक्षण और उसकी गुणवत्ता के आधार पर भू–राजस्व का निर्धारण इस तथ्य का द्योतक है कि इस काल में भू–राजस्व व्यवस्था अपने विकसित स्तर पर पहुँच चुकी थी।[69] अर्थशास्त्र में विस्तृत पंजियो और जनगणना सूचियों के निर्माण के लिए उत्तरदायी विशिष्ट अधिकारियों के निर्देशन में ग्रामीण भू–भागों के विस्तृत सर्वेक्षण का उल्लेख है।[70] **यह फ्रांस और अन्य देशों को भू–कर सर्वेक्षण व्यवस्था से तथा भारत में आधुनिक काल में प्रचलित भू–राजस्व से आश्चर्यजनक सादृश्य रखती है।**

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अध्ययन से कल्याणकारी राज्य की अवधारणा उजागर होती है। कौटिल्य के अनुसार राजा का कर्त्तव्य केवल प्रजा की रक्षा करना ही नहीं है, बल्कि उसका मुख्य उद्देश्य योगक्षेम की स्थापना करना है। अर्थात् जो नहीं है, उसे प्राप्त करना और जो है, उसकी रक्षा करना ही योगक्षेम है। इस प्रकार योगक्षेम में लोककल्याणकारी राज्य का भाव निहित है, जिसके द्वारा प्रजा के हित का सम्पादन ही राजा का कर्त्तव्य है। **कौटिल्य का सार विषय उक्त विचार आज के आर्थिक युग में और भी प्रासंगिक है।**

मौर्यकाल में वर्तमान समय की अपेक्षा करों की संख्या अधिक थी, लेकिन फिर भी उस समय प्रजा करों के भार से अत्यधिक दबी हुई नहीं थी। क्योकि राज्य जितने कर लेता था, उसी अनुपात में वह कल्याणकारी कार्य भी करता था। इस परिपेक्ष्य में मौर्ययुगीन राजकरों और राजकार्यों की मीमांसा करने पर हम तत्कालीन करों को आधुनिक करों की तुलना में भारी नहीं कह सकते। आज तत्काल की अपेक्षा करों की संख्या भले ही कम हो, परन्तु उनसे पर्याप्त आय होती है। तब आय छोटे–छोटे स्रोतों से होती थी। ऐसी दशा में आवश्यक आमदनी संचित करने के उद्देश्य से तब विविध कर लगाना अस्वाभाविक नहीं था। वर्तमान में भ्रष्टाचार पर अंकुश नहीं होने के कारण कल्याणकारी कार्यों पर अपेक्षित व्यय नहीं होता है। परिणामतः वर्तमान में आधी से अधिक प्रजा भूखी–नंगी चिन्तनीय स्थिति में है।

मौर्यकाल में कल्याणकारी कार्यों में जनता को प्रवृत करने के लिए भूमि कर से छूट के प्रलोभन का वर्णन भी मिलता है। यदि कोई किसान नया तालाब या बाँध बनाता था, तो उसे पाँच वर्ष के लिए भूमिकर से मुक्त कर दिया जाता था, टूटे हुए तालाब या बाँध की मरम्मत कराने की स्थिति में उसे चार वर्ष के लिए भूमिकर नहीं देना होता था।[71] राज्य में उपज की मात्रा कम न रहे और राजकीय आय में हानि न हो, इस हेतु भूमि पर खेती न कर सकने वाले किसानों से भूमि छिनकर उन व्यक्तियों को वह भूमि दे दी जाती थी, जो उस पर स्वयं खेती करे।[72] किसानों को आवश्यक साधनों की प्राप्ति हेतु ऋण देने की व्यवस्था भी थी।[73] ऋत्विक आचार्य, पुरोहित, क्षोत्रिय विशेष राज–कर्मचारी आदि योग्य व्यक्तियों के प्रति श्रद्धा और भक्तिभाव उत्पन्न करने के लिए ऐसे व्यक्तियों को राजकीय भूमि में से कुछ भूमि प्रदान कर दी जाती थी और यहाँ तक कि राज्य उनसे भूमि–कर भी वसूल नहीं करता था।[74] **कौटिल्य के उपर्युक्त विचार वर्तमान में भी प्रासंगिक प्रतीत होते हैं।**

मौर्यकाल में मजदूरी पर करारोपण का एक प्रकट उदाहरण वेश्याओं पर आरोपित कुत्सित कर है, जिसका उल्लेख अर्थशास्त्र में उपलब्ध होता है। **इसका प्रतिरूप रोमन साम्राज्य की राजस्व व्यवस्था में भी दिखाई देता है।**[75]

अर्थशास्त्र[76] में मादक पदार्थों के उत्पादन और बिक्री के सरकारी विनिमयन के माध्यम से उसकी वसूली की व्यवस्था की गई थी, किन्तु नैतिकता की दृष्टि से मद्य के उपभोग को सीमित करने की प्रवृत्ति इस ग्रन्थ में दृष्टिगत होने लगती है। बौद्ध और जैन ग्रन्थों तथा हिन्दू स्मृतियों की शिक्षाओं के इस प्रवृत्ति को बहुत बल मिला होगा। **वर्तमान में भी यह व्यवस्था अपनायी जाती है।**

अर्थशास्त्र में जुआरी लोगों को निर्दिष्ट स्थान पर ही जुआ खेलने की व्यवस्था की गई थी। राज्य जीतने वाले से 5 प्रतिशत कर के रूप में वसूल करता था।[77] निर्दिष्ट स्थानों के अतिरिक्त स्थानों पर जुआ खेलने पर तथा खेल में धोखा धड़ी करने पर जुर्मानों की भी व्यवस्था थी।[78] इस प्रकार मौर्य काल में जुए की प्रवृत्ति को सीमित करने का प्रयास दृष्टिगत होता है।

कौटिल्य[79] के अर्थशास्त्र में विष्टि (बेगार) का उल्लेख मिलता है, जहाँ 18वीं शताब्दी में फ्रांसीसी कोवीं की भांति ही बेगार उत्पीडन का एक उपयोगी स्रोत थी, वहीं अन्य साक्ष्यों से प्रतीत होता है कि उसे लागू करने में 16वीं शताब्दी में **और 17वीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में इंग्लैण्ड में प्रचलित कानूनी श्रम के समान नरमी बरती जाती थी।**[80]

मौर्यशासकों ने एक सुसंगठित राजस्व व्यवस्था का गठन किया तथा इसको नियन्त्रित करने के लिए अनेक अधिकारियों की नियुक्ति की जिसमें समाहर्ता (राजस्व मंत्री), सन्निधाता (कोषमंत्री) जो क्रमशः राजस्व को एकत्रित करने तथा राजस्व को कोष विभाग में संचित करने से सम्बन्धित थे। इन अधिकारियों की सहायता के लिए अनेक अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थीं। इस प्रकार कौटिल्य ने राजस्व प्रशासन की अत्यन्त व्यापक व्यवस्था बनायी। आय–व्यय तथा सामान्य प्रशासन के दोनों विभागों के राजकार्य का संचालन समाहर्ता के कुशल निर्देशन में होता था, **इसलिए इसकी तुलना वर्तमान के कलेक्टर जनरल से की जा सकती है।** इन अधिकारियों को वर्तमान समय की भाँति नकद वेतन दिया जाता था, जिसकी सूची कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलती है।

मौर्यकालीन राजस्व व्यवस्था, जो काफी अधिक सुसंगठित एवं उच्च स्तरीय थी, आंशिक परिवर्तन के साथ मौर्योत्तर काल में भी प्रचलित रही। मौर्यकाल में साधारणतया भू–राजस्व व्यक्तिगत रूप से वसूला जाता था, लेकिन गाँव के सामूहिक कर निर्धारण से भी वे अपरिचित नहीं थे। लेकिन मौर्योत्तर काल में निजी जोत क्षेत्रों पर राजस्व होने की पुरानी प्रथा के प्रचलन[81] के संकेत मिलते हैं। इसकी पुष्टि सातवाहन शासनपत्रों में होती है। जहाँ कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भू–राजस्व की सामान्यतया दर 1/6 भाग निर्धारित की गई है, वहीं इस काल के विधि निर्माताओं में मनु आदेश करते है कि राजा उपज का षठांश, अष्टमाँश या द्वादशांश ले सकता है। मौर्योतर काल में भूमिकर की वास्तविक दर क्या थी, इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है, लेकिन ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि भूमिकर लाभ पर लगाया जाता था। अर्थशास्त्र में भाग एवं बलि में भेद स्पष्ट किया गया है। अर्थशास्त्र में जहाँ बलि का उल्लेख उपज में राजा के सामान्य अंश के

अलावा मूलतः छोटे उपज कर के रूप में हुआ है[82] वहीं मिलिन्दपहों (मौर्योत्तर काल) में बलि का उल्लेख एक संकटकालिन कर के रूप में हुआ है।[83] इसके विपरीत जूनागढ़ अभिलेख में बलि का कर के अर्थ में प्रयोग हुआ है।[84] मौर्यकाल में प्रचलित हिरण्य नामक कर जो शायद नकद वसूल किया जाता था, इस काल में इसका प्रचलन अधिक दिखाई देता है।

मौर्यकाल में सिंचाई कर (उदकभाग) का वर्णन मिलता है, लेकिन मौर्योत्तर काल में सिंचाई कर न मिलना इस तथ्य का परिचायक है कि इस काल में राज्य ने सिंचाई का उत्तरदायित्व ग्रहण नहीं किया परिणामतः उसके लिए वह किसी प्रकार के कर का दावा नहीं कर सकता था।[85]

मौर्यकाल की भाँति मौर्योत्तर काल में भी पशु कर एवं विष्टि (बेगार) का प्रचलन था, लेकिन जहाँ मौर्यकाल में विष्टि का भुगतान नहीं होता था।[86] अतः इस काल में विष्टि पीड़ादायक बन गई। मौर्यकाल की भॉति मौर्योत्तर काल में भी शुल्क (वाणिज्यकर) का उल्लेख मिलता है।

कौटिल्य ने एक स्थान पर राजकीय आय में सुरा को सम्मिलित किया है तथा गैर सरकारी मादक पेय पर 5 प्रतिशत का शुल्क लगना चाहिए का उल्लेख किया है, लेकिन मौर्योत्तर काल में मनु ने शराब के विभिन्न प्रकारों का तो उल्लेख किया है, लेकिन उनमें से किसी पर भी कर की चर्चा नहीं की है। महावस्तु[87] में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मादक द्रव्य तथा शराब से परहेज करना धर्म है, लेकिन हमारे पास इस बात के कोई प्रमाण नहीं है कि मौर्योत्तर कालीन शासकों ने मद्य–निषेध नीति का अवलम्बन किया है।

अर्थशास्त्र88 में वर्तनी (मार्ग कर) का उल्लेख मिलता है। मौर्योत्तर काल में दक्षिण भारत में तो मार्ग कर का प्रचलन था।89 लेकिन उत्तर भारत के सम्बन्ध में, समकालीन साहित्यिक स्रोतों में पथकर के प्रचलन का संकेत नहीं मिलता है। मौर्यकाल की भांति, मौर्योत्तर काल में भी घाटकर का प्रचलन जारी रहा इसकी पुष्टि इस काल की स्मृतियों एवं अभिलेखों के साक्ष्यों से होती है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र90 में 350 तरह के जुर्मानों का उल्लेख है, जिससे राज्य को आय होती थी, लेकिन मौर्योत्तर कालीन स्मृतियों मे ंइसकी संख्या कम मिलती है। इससे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि मौर्योत्तर काल में दण्डनीय अपराधों की संख्या काफी हद तक घट गयी थी। मौर्यकाल में प्रणय (आपातकालीन कर) का उल्लेख मिलता है।[91] लेनिक मौर्योत्तर कालीन विधि ग्रन्थों में प्रणय का उल्लेख नहीं मिलने से यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि मौर्योत्तर काल में यह अपेक्षाकृत कम प्रचलित रहा।

मौर्योत्तर कालीन विधिग्रन्थों में अर्थशास्त्र के विपरीत राजस्व मुक्त भूमिदान का उल्लेख नहीं है, किन्तु उसमें भी ब्राह्मणों के लिए भूमिदान की प्रथा का गुणगान सभी दानों में सर्वाधिक पुण्य दान के रूप में हुआ है।

मौर्योत्तर कालीन स्रोतों से पता चलता है कि ग्राम एक महत्वपूर्ण प्रशासनिक इकाई के रूप में उभरा, आहार, प्रशासन का दूसरा विभाजन था, लेकिन विषय नामक प्रशासनिक इकाई का उल्लेख मौर्योत्तरकालीन पुरालेखों में नहीं मिलता है। मनु द्वारा अनुशंसित प्रशासनिक विभाजन अर्थशास्त्रोक्त प्रशासनिक विभाजन से थोड़ा भिन्न प्रतीत होता है।[92]

मौर्योत्तर कालीन राजस्व अधिकारियों में ग्रामिक का उल्लेख मिलता है। अर्थशास्त्र में जहाँ गोप नोमक अधिकारी का उल्लेख मिलता है, वही मौर्योत्तर कालीन स्रोतों से गोप का उल्लेख मिलता है, लेकिन लेखक[93] का उल्लेख मिलता है। जो कि अर्थशास्त्र में वर्णित गोप का प्रतिरूप प्रतीत होता है। अल्तेकर का भी मानना है कि लेखक ग्राम का लेखाकार था।[94] अर्थशास्त्र के विपरीत मौर्योत्तर काल में शौल्किक नामक अधिकारी का उल्लेख मिलता है। शौल्किक शब्द पंतजलि के महाभाष्य[95] तथा दिव्यावदान[96] में मिलता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र[97] में जहाँ अधिकारियों को नकद भुगतान का उल्लेख मिलता है, जबकि मनु[98] में मौर्योत्तर काल में जिंसी तथा भूमिदान द्वारा अधिकारियों को भुगतान करने की अनुशंसा की है। मौर्योत्तरकालीन स्रोतों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि नकदी भुगतान के साथ–साथ जिंसी तथा भू–आवंटन द्वारा वेतन का भुगतान करने की प्रथा का मौर्योत्तर काल में शायद एक साथ ही जड़ जमा रही थी।

पूर्वकाल की भांति गुप्तकाल में भी कोष की महत्ता को महत्ता को स्वीकार किया गया, अतः कामंदक ने कोष को शासकों का मूल कहा।[99] गुप्तकालीन विधिवेता भी यह भली–भांति जानते थे कि प्रजा से उतना ही कर लेना चाहिए जितना वह सरलता से दे सके और उसके पास भावी उत्पादन के लिए पर्याप्त धन बचा रहे। जहाँ कामंदक ने इसे ग्वाले और माली की उपमा से समझाया है[100] वही कालिदास के अनुसार राजा प्रजा की भलाई के लिए प्रजा से कर वसूल करता है।[101] **कालिदास और कामंदक के कर सम्बन्धी सिद्धान्त एडमस्मिथ के तीसरे और चौथे सिद्धान्त से साम्य रखते है,** जिसके अनुसार प्रत्येक कर समय पर और उचित तरीके से लगाये जाने चाहिए, ताकि करदाता के लिए इसे अदा करना सुविधाजनक हो।[102] इसी प्रकार के विचार जानस्टूअर्ट मिल103 ने भी व्यक्त किये हैं।

प्रारम्भिक काल में ही भारत में भू–राजस्व आय का प्रमुख स्रोत रहा। मौर्यकालीन स्रोत कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र[104] में उपज का छठा भाग कर के रूप में राजा को लेने का निर्देश देता है। वही **मेगस्थनीज**[105] के अनुसार मौर्यकाल में राजा उपज का चौथा भाग कर के रूप में वसूल करता था। इसी प्रकार कालिदास[106] ने राजा को भूमि की उपज का छठा भाग ही राजस्व के रूप में लेता था।[107] उपज का छठा भाग गुप्तकाल में इतना लोकप्रिय हो गया था कि राजा आश्रमों में डाकुओं की सुरक्षा के बदले आय का 1/6 भाग वसूल करने का अधिकारी बन गया।[108]

गुप्तकाल से ही अभिलेखों में प्रायः उद्रंग तथा उपरिकर नामक दो नये शब्दों का उल्लेख मिलता है, जिसका अर्थ घोषाल ने क्रमशः स्थाई तथा अस्थाई रैयतों पर लगाया गया कर किया है।[109] इनका वास्तविक रूप निश्चित करना सम्भव नहीं है। गुप्तकालीन शासन पत्रों में हमें भू–राजस्व के ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं, जो पूर्ववर्ती स्रोतों में उल्लिखित नहीं है। इस तरह गुप्तकाल के अभिलेखों में मेय, दिव्य तथा धान्य शब्दों का अक्सर उल्लेख मिलने लगता है। यद्यपि इन

शब्दों का सही अर्थ निश्चित करना कठिन है, परन्तु ये इतने व्यापक प्रतीत होते हैं कि इनके द्वारा भूमि से प्राप्त सभी प्रकार के राजस्वों का बोध होता है। उच्छकल्प शासक सर्वनाथ के दो भूमिदान पत्रों के हलिका कर नामक भू–राजस्व सम्बन्धी एक नये शब्द का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार एक और गुप्तकाल में कुछ नये कर जैसे उपिरकर, उद्रंग, हलिकाकर आदि का पहली बार उल्लेख मिलता है। दूसरी और मौर्यकाल के कुछ कर जैसे भाग, कर और हिरण्य गुप्तकालीन स्मृतियों तथा अभिलेखों में भी मिलते हैं, इसके अतिरिक्त सिंचाई कर (उदक भाग) गुप्तकाल में धीरे – धीरे समाप्त हो गया, क्योंकि सिंचाई कार्य अब निजी या स्थानीय मामला होने लगा। इससे सम्भवतः किसानों को कुछ राहत मिली होगी। फाह्यान एवं गुप्तकालीन स्मृतियों एवं अभिलेखों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गुप्तकाल में करों का बोझ मौर्यकाल से अधिक नहीं था।

गुप्तकाल में भी पूर्व काल भी भाँति विष्टि (बेगार) का प्रचलन था। गुप्तकाल में बेगार के भुगतान के कोई साक्ष्य नहीं मिलते हैं। लेकिन गुप्तकालीन स्रोतों से यह पता चलता है कि कालक्रम में स्वतन्त्र किसान भी बेगार के शिकार हो गये। दूसरे शब्दों में बेगार पीड़ादायी होने लगी। यह और भी पीड़ादायी तब हो गयी जब गुप्तकाल से ही बेगार (विष्टि) पर राजकीय अधिकार भूमि–दान ग्रहिता को हस्तान्तरित कर दिया गया।

राजकीय आय के साधन आय के साधनों में वाणिज्य करों का भी योगदान था। इसके अन्तर्गत शुल्क, घाटकर, जो पूर्वकाल में भी प्रचलित थे, आलोच्यकाल के दौरान भी प्रचलित थे। यद्यपि मद्यकर, जो मौर्यकाल में भी प्रचलित था, मौर्योत्तर एवं गुप्तकाल में लुप्त हो गया, लेकिन यह बताने के लिए हमारे पास साक्ष्य नहीं है कि राज्य द्वारा मद्य निषेध नीति का अवलम्ब किया गया था। फाह्यान के अनुसार तत्कालीन भारत में मद्य निषेध पूर्णतः वर्जित था।110 घोषाल111 का मानना है कि यदि फाह्यान के प्रमाण पर विश्वास किया जाए तो शराब की बिक्री से प्राप्त राजस्व (जो मौर्यकाल में आय का प्रमुख स्रोत था), गुप्तकाल में पूर्णतया लुप्त हो गया था। लेकिन यह सम्भावना खण्डित हो जाती है, क्योंकि कालिदास ने गलियों में शराब की दुकान तथा पीने के दूसरे स्थानों का उल्लेख किया है।112 केवल पुरुष ही नहीं, बल्कि महिलाएँ भी मद्यपान का आनन्द लेती प्रतीत होती है। कालिदास के अनुसार शराब महिलाओं को विशेष आकर्षक बनाती है।113 इससे मद्य सेवन का व्यापक प्रचलन ध्वनित होता है, अतः फाह्यान का कथन असंदिग्ध रूप से स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

गुप्तकाल में पूर्ववर्ती ग्राम, आहार, विषय आदि राजवित्तीय इकाइयों का प्रचलन तो था ही परन्तु इस काल में कुछ नई प्रशासनिक इकाईयों जैसे मुक्ति, वीथि, पुर, स्थली, पट्ट, पेठ, पद्रक, देश, मण्डल आदि का उल्लेख भी मिलता है। यद्यपि कौटिल्य द्वारा उल्लिखित राज्य पदाधिकारी आमतौर पर गुप्तकाल में ही मिलते हैं, लेकिन उनमें से कुछ इस काल में भी विद्यमान प्रतीत होते हैं। इस काल में भी ग्रामिक का उल्लेख मिलता है। अर्थशास्त्र में वर्णित दो अधिकारियों को गुप्तकालीन अभिलेखों में प्राप्त उन्हीं जैसे दो अधिकारियों की कोटि में रखा जा सकता है। इनमें से शुल्काध्यक्ष को शौल्लिक की कोटि में तथा आयुक्त को आयुक्तक की कोटि में रखा जा सकता है। यद्यपि अभिलेखागार के अर्थ में अक्षपटल का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में है, पर अभिलेखों में इसके प्रभारी अधिकारी का जिक्र केवल गुप्तकाल से ही मिलना शुरू होता है।

उसी प्रकार राजस्व के स्रोतों में हिरण्य का प्रयोग अर्थशास्त्र में मिलता है, लेकिन इसे वसूलने वाले पदाधिकारी (हिरण्य सामुदायिक) का उल्लेख सर्वप्रथम गुप्तकालीन अभिलेखों में ही मिलता है। उपर्युक्त अधिकारियों के अतिरिक्त गुप्तकाल में लेखक, दिवरपति, आग्रहारिक, औद्रंगिक या द्रांगिक, विषयपति नामक अधिकारियों के उल्लेख भी मिलते है, लेकिन इनके कर्त्तव्यों एवं कार्यों के विषय में प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गुप्तकाल में मौर्योत्तर काल की अपेक्षा अधिकारियों की संख्या अधिक थी – पुरालेखीय शब्दों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि इन अधिकारियों को वेतन का भुगतान जिंसी रूप में किया जाता था, लेकिन किसी भी पुरालेखीय प्रमाण में इन अधिकारियों को भूमि (जागीर) दिये जाने का प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है।

गुप्तोत्तर काल में अधिकतर लेखकों ने मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि प्राचीन ग्रन्थों पर टीका करके राजस्व के सिद्धान्तों का ऐसा प्रतिपादन किया जिससे कि वे परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल हो सके। उन्होंने किन्हीं नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया। उदाहरण के रूप में मेधातिथि ने कहा है कि यदि राजा कर नहीं लेता तो उसके कोष तथा जनता दोनों को संकट उठाना पड़ता है। युद्ध के समय कोष के अभाव में राजा देश की रक्षा नहीं कर सकता।[114] कर जनता को सुरक्षा देने की कीमत माना जाता था। निबन्धकारों ने आपातकाल, युद्ध, अकाल में तथा नियमोल्लंघन करने वालों से सामान्य की अपेक्षा अधिक कर लेने की बात की है। सोमेश्वर[115] ने कहा है कि विशेष परिस्थिति में ब्राह्मण, मन्दिर, तथा अधिक धनवान व्यापारी से उतना लेना चाहिए जितना व्यय पूरा करने, विपदा टालने तथा धार्मिक क्रिया के लिए अपेक्षित हो। सन्यासियों, श्रेणियां, धनी, विधवाओं, दरबारियों आदि से भी आवश्यकतानुसार कर लेना चाहिए।

इस काल की राजस्व व्यवस्था का सही चित्रण अभिलेखों के आधार पर किया जा सकता है, अभिलेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि इन काल में गुप्तकाल की तुलना में करों की संख्या अधिक थी, यहाँ तक की घास और सिवार तक पर कर लिया जाता था। शायद ही कोई वस्तु न थी, जिस पर कर नहीं लिया जाता हो। अनेक अधिकारियों द्वारा जो कर लिए जातेथे, उनसे भी इस बात की पुष्टि होती है कि इस काल में करों का भार प्रजा पर अत्यधिक हो गया था।[116] इस काल के अभिलेखों में अधिकारियों की सूची भी गुप्तकालीन अधिकारियों की सूची से बहुत लम्बी है। उन सबके नाम पर कर लिए जाते थे।

इस काल में कर और बलि का अलग करों के रूप में उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु अनेक करों और उपकरों के लगाए जाने से जनता का निर्वाह करना कठिन हो गया, क्योंकि वस्तुओं पर कर लगने से इसका मूल्य भी बढ़ जाता है। परन्तु कश्मीर को छोड़कर अन्यत्र जनता द्वारा विद्रोह करने के उदाहरण नहीं मिलते हैं। केवल कश्मीर के कुछ ब्राह्मणों द्वारा भूख हड़ताल का उल्लेख मिलता है।[117] करों की वृद्धि का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि जब भारत पर तुर्क अफगान आक्रमण हुए तो प्रजा उदासीन रही, क्योंकि उसने सोचा होगा कि सम्भव है कि नये शासक करों का भार कुछ हल्का कर दें औँर जीवन पहले की अपेक्षा कुछ कम कष्टमय हो जाये।

गुप्तोत्तर काल की राजस्व व्यवस्था सामन्तवाद से भी प्रभावित हुई, क्योंकि इस काल में सामन्त प्रथा अपनी विकसित स्थिति में पहुँच गई थी। इस काल में राज्य के उच्च अधिकारियों को भी वेतन के बदले एक विशेष भू–भाग दिया जाने लगा। हर्ष के काल में लगभग यह परम्परा सामान्य रूप ग्रहण कर लेती है। हर्ष के अभिलेखों में कुछ ऐसे अधिकारियों के नाम आते हैं जिनके पदों से पहले सामन्त महाराज या महासामन्त पद जुड़े हैं। इसका अर्थ है कि हर्ष अपने साम्राज्य के शासन में कुछ सामन्तों की सेवाओं का भी प्रयोग करता था। एहोल अभिलेख से ज्ञात होता है कि हर्ष की सेना में सामन्तों द्वारा जुटाई गई सेना अधिक थी। इसका यह दुष्परिणाम हुआ कि सम्राट सामन्तों पर अधिक निर्भर हो गया। वे ही जनता से कर वसूल करते थे और वे ही सेना रखते थे। आवश्यकता पड़ने पर हर्ष समान्तों से सैनिक सहायता लेता था, इसलिए केन्द्रीय शक्ति पहले की अपेक्षा निर्बल हो गई। ऐसा भी प्रतीत होता है कि हर्ष अधिकतर राज्य कर्मचारियों को वेतन के बदले में भूमि देता था।

प्राचीन भारत की राजस्व व्यवस्था के तुलनात्मक विश्लेषण के उपरान्त निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि राजस्व प्रशासन की भारतीय पद्धति के केवल तुच्छ और अविकसित होने की तो बात दूर रही, वह यूनानी और रोमन तथा मध्यकालीन यूरोप की उपलब्धियों से कहीं आगे पहुँच चुकी थी। इतना ही नहीं, उसमें आधुनिक वित्त व्यवस्था की कतिपय प्रमुख विशेषताएँ भी विद्यमान थी। उसकी प्रारम्भिक अवस्था वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में दिखाई देती है, जबकि इसका विकसित स्वरूप मौर्यकाल में दिखाई देता है, जिसकी जानकारी प्रमुख रूप से कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज के उद्धरणों में मिलती है। गुप्त एंव गुप्तोत्तर काल में इसमें परिवर्द्धन एवं संशोधन दिखाई देते हैं। प्राचीन भारत की राजस्व व्यवस्था के अवलोकन के आधार पर यह कहा जाता है कि इस काल में राजस्व ठेकेदारों को नहीं सौपा जाता था तथा राजस्व की उगाही अपनी सेवाओं के लिए नियमित वेतन पाने वाले सरकारी अधिकारियों का कार्य माना जाता था। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन राजस्व व्यवस्था में आधुनिक कराधान, व्यवस्था के मूलभूत सिद्धान्त अज्ञात नहीं थे। यही नहीं करों की मदों की विविधता, सार्वजनिक वित्त व्यवस्था से सम्बद्ध विषयों का विवेचन तथा उसके सिद्धान्तों के विशदीकरण की दृष्टि से भी यह स्पष्ट होता है कि भारतीय राजस्व व्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक विकसित स्थिति में थी। प्राचीन भारतीय राजस्व व्यवस्था की सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि मनुस्मृति और महाभारत में प्राप्त कराधान के व्यावहारिक नियम न केवल राष्ट्रीय सम्पत्ति तथा लोक राजस्व के तर्कसंगत वित्तीय सिद्धान्तों पर आधारित है, अपितु उनमें कतिपय ऐसे सूत्र भी सन्निहित हैं, जो एडम स्मिथ और सिस्पौंडी द्वारा आधुनिक काल में प्रतिपादित प्रसिद्ध सूत्रों से मेल खाते हैं।

प्राचीन भारत की राजस्व व्यवस्था में मध्य युगीन भारत के राजस्व के इतिहास की कुछ ऐसी विशेषताएँ मिलती है, जैसे भू–सर्वेक्षण की विधि, भू–राजस्व का नगद भुगतान आदि जिनके आधार पर यह कहना अतिश्योक्तिपूर्ण नहीं होगा कि प्राचीन भारत की राजस्व व्यवस्था मुस्लिम राजस्व व्यवस्था का पूर्वरूप थी। इस प्रकार पूर्वगामी पृष्ठों में प्राचीन राजस्व व्यवस्था का किया गया विवेचन इस तथ्य का परिचायक है कि प्राचीन भारत की राजस्व व्यवस्था अपनी विकसित अवस्था में निश्चय ही बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँच चुकी थी।

सन्दर्भ

1. ऋग्वेद 7, 6, 5, 176, 6
2. वही10, 173.6
3. जिमर, लाइफ इन एशिएंट इण्डिया (जर्मन सं.) 166
4. वैदिक इण्डेक्स, 2, पृ. 62
5. तुल. सेलिग्मैन, एसेज इन टैक्सेशन, नवम संस्करण, पृ. 2–3
6. वैदिक एज. 358
7. ऋग्वेद 7.6.5
8. ऋग्वेद 7, 18–19
9. वही 7/18/19
10. वैदिक एज 358
11. ऋग्वेद 1, 65, 4
12. यो आर्यो मर्त भोजनं परादादाति दाशुषे। इन्द्रो असभ्यं शिक्षतु विभजा भूरितेवसु भक्षीय तवराधस।। ऋग्वेद 1/81/6
13. भूरि कर्मणे वृषभाय वृष्णे सत्य शुष्मय सुनवास सोमम्। य आदृदत्या परिपन्थीय सूरोडयज्वनो विभजन्न तिवेदः।। ऋग्वेद म. 1, सूक्त 103/6
14. ऋग्वेद 7/6/7
15. अथर्ववेद, III.4
16. वही, III.4
17. घोषाल, यू. एन. हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. 6
18. अथर्ववेद 4, 22
19. व्हिट्ने का अनुवाद, वही, पृ. 188
20. घोषाल, यू. एन. हिन्दू राजस्व का इतिहास, पृ. 5
21. अथर्ववेद 3.29.3
22. वही, 5.19.3
23. शतपथ ब्राह्मण V. 3.3.12, 4.2.3

24. वही, XI 2.6.14; I 3.2.15
25. पंचविश ब्राह्मण XIX. 14
26. तैत्तरीय संहिता, 1,8–9,2 तैत्तरीय ब्राह्मण, 1,7.3,5, शतपथ ब्राह्मण 5, 3.1,1, मैत्रायणी संहिता, 2,6.5, काठक संहिता, 15.4 आदि।
27. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ. 199
28. जातक प्ट पृ. 184, IV पृ. 27
29. वही, IV पृ. 169, 399, V पृ. 248, IV पृ. 132, VI पृ. 347,1, पृ. 199, II पृ. 199, पृ 240, VI पृ. 431, III पृ. 3, 61, IV पृ. 169, VI पृ. 294
30. वही, III पृ. 3, 61, IV पृ. 169, VI पृ. 294
31. ज. ऑफ बिहार खण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, VI पृ. 101–2, ज. ऑफ द अमेरीकन आरियन्टल सोसाइटी, 13, पृ. 88
32. मेहता, आर. एन. द बुद्धिस्ट इण्डिया अध्याय III, पृ. 141
33. जातक, III पृ. 9, IV पृ. 169
34. वही, V पृ. 98, 240
35. वही, II पृ. 17, V पृ. 98, IV पृ. 362
36. वही II पृ. 366
37. वही II पृ. 367
38. वही II पृ. 378
39. वही,
40. वही II पृ. 378, जेड, डी. सी. एस. सी. XIVII, 468–70
41. रिचर्ड, फिक, सोशल आरगेनाइजेशन ऑफ नाथ ईस्ट इण्डिया, पृ. 149
42. जातक, II पृ. 376
43. वही II पृ. 376
44. जातक IV पृ. 281
45. वही III पृ. 293, IV पृ. 276
46. दीक्षितार, वी.आर.आर. हिन्दू एडमिस्ट्रीट्रेशन इन्स्ट्टीयूटशन, पृ. 202
47. जातक II पृ. 17
48. वही V पृ. 106
49. वही IV पृ. 362
50. वही V पृ. 102–106
51. वही VI पृ. 212
52. मेहता, आर. एन., प्री. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ. 145, प्रसाद, बेनी, द स्टेट इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, पृ. 148
53. जातक IV पृ. 362, टप् पृ. 212
54. वही V पृ. 98–99
55. वही IV 43, V, 12;1, 248, 252
56. जातक VI, पृ. 347
57. वही I पृ. 199, II, 240
58. विनय पिटक, वाल्युम III पृ. 52, घोषाल यू.एन.हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. 88
59. विनय पिटक, वाल्युम III पृ. 4
60. दिव्यावदान, पृ. 170–171, जातक VI पृ. 431
61. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, 1.4
62. वही VI. 1
63. वही VIII, 1
64. कौ. अर्थ., 9/4
65. वही, 2/1
66. वही, 5/2
67. वही, 1/13, 2/19
68. वही, 2/1
69. मौरलैण्ड, डब्ल्यू. एच. दि एग्रोरियन सिस्टम ऑफ मुस्लिम इण्डिया (कैम्ब्रिज 1929) के प्रारम्भिक अध्ययन में उपलब्ध होता है।
70. वही, पृ. 60, और आगे।
71. तटाकसेतु बन्धानां नव प्रवर्तने पांचवार्षिक परिवार : भग्नोत्सृष्टानां चातुवार्षिकः। कौ. अर्थ. 3/9
72. अकृषतामिच्छिधान्येभ्यः प्रयच्छेतं – कौ. अर्थ, 2/1

73. धान्य पशुहिरण्यैश्चैनाननृत्रहणीयता। तान्युसुखेन दधु. को. अर्थ. 2/1
74. कौ. अर्थ. 2/1
75. घोषाल, यू. एन. हिन्दू राजस्व व्यवस्था का इतिहास, पृ. 207
76. कौ. अर्थ. 2/25
77. कौ. अर्थ, 3/20
78. कौ. अर्थ., 3/20
79. वही, 2/15
80. घोषाल, यू. एन. पूर्वोद्धत, पृ. 210
81. लूडर्स लिस्ट संख्या, 1162–63, 64–66–67 आदि
82. घोषाल, सम हिन्दू फिस्कल टर्म्स डिस्कस्ट, पृ. 203
83. मिलिन्द, पृ. 146
84. ए.ई. 8, संख्या 6, 1.14
85. रा.श.शर्मा, प्रोसीडिंग्स ऑफ द इण्डियन हिस्ट्री कॉंग्रेस 1957, पृ. 63
86. मिलिन्द, पृ. 47
87. जे. जे. जोन्स (अनु) महावस्तु 2, पृ. 96
88. अर्थशास्त्र 2, 21, तुलनीय भट्ट स्वामी की व्याख्या ज.वि.ओर.रि.सो. 12, भाग–1, पृष्ठ 125
89. के. पिल्लई, तमिल्स एद्विन इण्डेड ईयर्स एत्रो, पृ. 109
90. गोपाल, मौर्यन पब्लिक फाइनेन्स, पृ. 132
91. कौ. अर्थ. 5.2
92. मनु. 7.114–117
93. लूडर्स लिस्ट, संख्या 209, 1037, 1045
94. अल्तेकर, विलेज कम्यूनिटिज इन वेस्टर्न इण्डिया, इण्ट्रोडेक्शन, पृ. 12–13
95. महाभाष्य, 4.2, 104, पृ. 295, 1.15
96. दिव्यावदान, पृ. 276
97. कौ. अर्थ. 5.3
98. मनु. 7.118
99. कॉंमदक XIII, 33, पृ. 69
100. वही, 5, 84, पृ. 29
101. रघुवंश, 1, 18
102. स्मिथ एडम, द वेल्थ ऑफ नेशन वाल्यूम प्प, पृ. 311
103. मिल जान स्टूअर्ट, पॉलिटिकल इकॉनामी, वाल्यूम प्, पृ. 366 (तृतीय संस्करण)
104. कौ. अर्थ., 1/13, 2/19
105. स्ट्रैबो, 15/1/40
106. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, 5
107. एपिग्राफी इण्डिका, 21/81
108. रघु ग्टप्प्ए 65
109. घोषाल, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. 210
110. लेगे (अनु. 3 फाहियान्स रेकार्डस ऑफ बुद्धिस्टिक किंगडम्स, पृ. 43)
111. हि. रे. सि. पृ. 192
112. शाकुन्तल, पृ. 188, कुमार, 6.42
113. कुमार 3.8, तुलनीय मालविका, पृ. 49
114. मनु. 7/29 की व्याख्या
115. नीति वाक्यामृत अ. 21, पृ. 82
116. शर्मा, रामशरण, इण्डियन फ्यूडलिज्म, पृ. 188–190
117. मजूमदार, बी.पी., सोशियो इकानॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. 238–239

परिशिष्ट – प्रथम

महाकाव्यों में राजस्व व्यवस्था

भारतीय इतिहास में रामायण एवं महाभारत नामक दो सुप्रसिद्ध महाकाव्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। रामायण हमारा आदि काव्य है, जिसकी रचना महर्षि वाल्मीकि ने की थी। महाभारत की रचना वेदव्यास ने की थी। दोनों महाकाव्यों में रामायण अधिक प्राचीन है। महाभारत की रचना रामायण के पश्चात् हुई। यही कारण है कि महाभारत में रामोपख्यान मिलता है। रामायण के रचना काल के विषय में विद्वानों में मतमतान्तर हैं, लेकिन ऐसा माना जाता है कि छठी शताब्दी ई. पू.. में रामायण ने अपना वर्तमान स्वरूप ग्रहण कर किया लिया था।[1] महाभारत को भी एक समय की रचना नहीं माना जाता। ऐसा माना जाता है कि महाभारत को अपना वर्तमान स्वरूप प्राप्त करने में लगभग एक हजार वर्ष लगें[2] तथा महाभारत अपना वर्तमान स्वरूप चौथी शताब्दी ई. में प्राप्त कर सकी। महाभारत में उल्लेखित विवरण भिन्न–भिन्न समय में होने के कारण यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि कौन सा तथ्य किस समय का है। अतः इसको ध्यान में रखते हुए महाकाव्यों में उल्लेखित राजस्व व्यवस्था का विवरण पृथक् परिशिष्ट में देने का प्रयास किया गया है।

रामायण में विवेचित राजस्व व्यवस्था

राज्य की समृद्धि और स्थायित्व उसकी आर्थिक स्थिति की सुदृढ़ता पर ही निर्भर है। इस सिद्धान्त को प्राचीन भारतीय आचार्य भली–भाँति समझते थे। इसीलिए उन्होंने कोष की गणना राज्य के सात अंगों में की है, और कोष या आर्थिक दुर्बलता को राष्ट्र की महान् विपत्ति माना है।[3] वाल्मीकि कहते हैं कि राजा को धर्म, अर्थ और काम (त्रिवर्ग) का समान रूप से सम्पादन करना चाहिए।[4] अर्थात् केवल अर्थ को ही अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। राज्य के संचालन में धर्म और काम का भी पर्याप्त महत्त्व है। इसीलिए ही राम भरत से प्रश्न करते हैं कि तुम अर्थ के द्वारा धर्म को अथवा धर्म के द्वारा अर्थ को हानि तो नहीं पहुँचाते? अथवा आसक्ति और लोभ रूप में काम के द्वारा धर्म और अर्थ दोनों में बाधा तो नहीं आने देते।[5] और हे भरत! क्या तुम समय का विभाजन करके धर्म, अर्थ और काम का योग्य समय में सेवन करते हो?[6] यहाँ यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि त्रिवर्ग में अर्थ का चिन्तन करना भी राजा के लिए उतना ही आवश्यक है, जिनता की धर्म और काम का। हनुमान ने राज्य के सात अंगों में कोष को प्रथम स्थान देते हुए कहा है – जिस राजा को कोष, दण्ड (सेना) मित्र और अपना शरीर – ये सब के सब समान रूप से उसके वश में रहते हैं, वह विशाल राज्य का पालन एवम् उपभोग करता है।[7] राम ने भी निषादराज गुह को सेना खजाना (कोष), किला और राज्य के विषय में सदा सावधान रहने का परामर्श दिया था।[8] विश्वामित्र ने भी राजा दशरथ के कोष और अन्य विषयों के बारे में पूछा था।[9]

उपर्युक्त सभी साक्ष्य पर्याप्त रूप से इस बात के गवाह है कि राज्य के हितों को स्थायी रखने के लिए कोष संचय आवश्यक था। राजा के मन्त्रियों को भी इस बात की शिक्षा दी जाती थी कि वे राज्य के कोष संचय के लिए तत्पर रहे।[10] स्वयं राजा भी धन की प्राप्ति के न्यायोचित साधनों के विशेषज्ञ होते थे।[11] और उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे रात्री के पिछले प्रहर में धन प्राप्ति के उपायों के विषय में चिन्तन करें।[12] राजा को दिया गया यह परामर्श अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि यदि वह अपने राज्य को समृद्ध और नागरिकों को समुन्नत बनाना चाहता है तो राज्य की आमदनी के साधनों पर ध्यान दें, ताकि आय अधिक और व्यय कम हो।[13] राजा को यह भी परामर्श दिया गया है की वह कोष संचय के लिए प्रजा को पीड़ित न करे। राज्य की आय बढ़ाने के लिए जो राजा शास्त्र सम्मत करों से अधिक कर वसूल करता है, वह राजा महान् अधर्म का भागी होता है।[14]

करारोपण

रामायण में कर को 'बलि' के नाम से अभिहित किया गया है।[15] राजा के द्वारा प्रजा से वसूल किय गया कर एक प्रकार से रक्षा कर ही था, जो राजा का प्रजा की रक्षा के दायित्व का निर्वाह के बदले में प्राप्त होता था।[16] चूँकि राजा अपने राज्य में रहने वाले सभी वर्णों के नागरिकों की रक्षा करता था, इसलिए यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि चारों वर्ण ही राजा को कर प्रदान करते होंगे। वैश्य वर्ण पर, जो कृषि, गोरक्षा और व्यापार द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे, करों का दायित्व अधिक होगे। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है ब्राह्मण और ऋषि–मुनि, तपस्वी आदि धन के रूप में राजा को कर नहीं देते होंगे। राम ने ऋषियों–मुनियो की राक्षसों से रक्षा की थी, इसलिए रक्षा के बदले निश्चित रूप से ऋषियों, मुनियों को भी कर देना पड़ता था। परन्तु यह कर धन के रूप में नहीं लिया जाता होगा। अरण्यकाण्ड का यह उल्लेख महत्वपूर्ण है कि राजा राज्य उसका चौथा भाग धर्म के अनुसार प्रजा की रक्षा करने वाले उस राजा को प्राप्त हो जाता है।[17] अर्थात् उन मुनियों की तपस्या के फल का चौथाई भाग राजा का होता है। श्रमिक वर्ग (शूद्र वर्ग) अपना श्रम मूल्य से चुकाते होंगे।[18] क्षत्रिय, चूँकि प्रजा की रक्षा करते थे।[19] इसलिए वे भी कर नहीं देते होंगे। अतः स्पष्ट है कि वैश्य वर्ग पर ही रक्षा का भार पड़ता होगा।

कर वसूली का कार्य मंत्री वर्ग के लोग ही करते थे।[20] इसके अतिरिक्त अष्टादशतीर्थ की सूची में कोषाध्यक्ष का भी वर्णन मिलता है।[21] जो अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के सहयोग से प्रजा की आय छठा भाग कर के रूप में वसूल करता था।[22] रामायण में यह निर्देश भी विद्यमान है कि राजा कर वसूली का कार्य कठोरतापूर्वक न करें और न ही आय के छठे भाग से अधिक कर वसूल करें, क्योंकि ऐसा करने पर राजा प्रजा के अनादर का पात्र बन जाता है।[23]

करारोपण के नियमों में स्पष्ट रूप से कहा गया था कि प्रजा पर इतना अधिक कर नही लगाना चाहिए कि जो उसके लिए असहय् प्रतीत हो। अयोध्याकाण्ड में दिये गये एक तर्क से स्पष्ट हो जाता है कि राज्य की आय के लिए प्रजा पर कितना कर आरोपित किया जाये।24 उस समय लोग धन का अर्जन यथार्थ तत्वों के द्वारा किया करते थे।25 उत्तरकाण्ड में राजा के असफल होने पर प्रजा की स्थिति अथवा राजा की क्या दशा होती है, इसका सम्बन्ध कर के साथ स्थापित किया गया है।[26] राजा[27] राज्य की आय–व्यय को सन्तुलित रखने का प्रयत्न करते थे। राजा प्रजा की आय का 1/6 भाग रक्षा करने के उपलक्ष्य में प्राप्त करता था।[28]

आय के स्रोत

उत्पादन का 1/6 भाग राजा को प्राप्त होने का नियम आरम्भिक काल से ही चला आ रहा था। अतः रामायण में भी इसी नियम का पालन किया गया। इसी को बलिष्ट भाग भी कहा गया है। किन्तु इस आय की प्राप्ति के साथ ही साथ राजा की यह जिम्मेदारी हो जाती है कि वह प्रजा की रक्षा करें। यदि वह प्रजा की रक्षा न करें तो पापी समझा जाता था। भरत, कौशल्या के समक्ष शपथ के साथ कहते हैं, जिसकी अनुमति से आर्य श्रीराम वन में गये, वह उसी अधर्म का भागी हो, जो प्रजा से उसकी आय का छठा भाग लेकर भी प्रजा वर्ग की रक्षा न करने वाले राजा को प्राप्त होता है।[29]

इसके अतिरिक्त राजाओं को उपहार स्वरूप भी बहुत सी वस्तुएँ प्राप्त होती थी जो कोष को समृद्ध बनाने में सहायक सिद्ध होती थी। इन उपहार की वस्तुओं में हाथी, कालीन, मृग धर्म, विशालकाय कुत्ते, सोने की मोहरे, घोडे, खच्चर एवं और बहुत सा धन भी प्राप्त होते थे।30 इसके अतिरिक्त अधीनस्थ सामन्त राजाओं से प्राप्त करों से भी कोश वर्धन होता था।[31] मित्र राजाओं और समुद्ध में जहाजों से व्यापार करने वाले व्यापारियों से धन और कीमती रत्न[32] और जनपदों से प्राप्त उपहार[33] आदि से भी कोष की सम्पन्नता में वृद्धि होती थी। चूंकि राष्ट्र के सभी वनों और खानों पर राज्य का नियन्त्रण था।[34] अतः इनसे भी राज्य को आय प्राप्त होती थी। इसके अतिरिक्त प्रजा से उनकी आय का छठा भाग भी राज्य की आय का मुख्य साधन था। आर्थिक दण्ड से भी राज्य को आय होती थी।[35]

व्यय की मदें

अयोध्याकाण्ड में वर्णन मिलता है कि राम धन की आय के उपायों और शास्त्र वर्णित कर्म के ज्ञाता थे।[36] राजा को यह शिक्षा दी जाती थी कि वह आय को अधिक और व्यय को कम रखे। उसके खजाने का धन अपात्रों के हाथों में न चला जाये, इस बात का वह विशेष ध्यान रखे।[37] राजा के द्वारा किए गये व्यय की मदें कौन–कौन सी होनी चाहिए, रामायण में इसका वर्णन मिलता है – (1) नये दुर्ग बनवाना, उन्हें धन–धान्य से परिपूर्ण रखना, अस्त्र–शस्त्रों से उन्हें परिपूर्ण रखना, किले की रक्षार्थ यन्त्रों को स्थापित करना, शिल्पियों और धनुर्धरों को वेतन देना[38] (2) राजा का धन देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यगत, योद्धों तथा मित्रों पर व्यय होना चाहिए।[39] (3) अन्य कर्मचारियों और सैनिकों को दिये जाने वाले वेतन एवं भत्ते[40] (4) राजमार्ग की शोभा बढ़ाने, उन पर प्रतिदिन छिड़काव करने[41] सिंचाई के लिए नदियों पर बांध बनवाने[42] और (5) यज्ञादि धार्मिक कार्यों के लिए[43] राजा का धन व्यय होता था। इस प्रकार धन का उपयोग एक निश्चित एवं आवश्यक कार्यों में ही किया जाता था। राजा को आय–व्यय के निर्धारण का पूरा अधिकार होता था।

महाभारत में विवेचित राजस्व व्यवस्था

महाभारत काल में अर्थ का महत्व और अधिक बढ़ गया था। इसके पूर्व धर्म और अर्थ दोनों को समान स्थान दिया गया था। महाभारत में बार–बार कहा गया है कि धर्म के साथ अर्थ को अधिक महत्व दे।[44] शान्तिपर्व[45] में उल्लेख मिलता है कि राजाओं को प्रयत्न करके निरन्तर अपने कोष की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि कोष ही उनकी जड़ है, कोष ही उन्हें आगे बढ़ाने वाला होता है। कोष को राजा का बल भी माना गया है।[46] एक स्थल पर उल्लेख हुआ है यदि राजा बलहीन हो तो उसके पास कोष कैसे रह सकता है, कोषहीन के पास सेना कैसे रह सकती है? जिसके पास सेना ही नहीं है, उसका राज्य कैसे टिक सकता है और राज्यहीन के पास लक्ष्मी कैसे रह सकती है।[47]

अन्यायपूर्ण करों से मुक्ति

राजा को यह अधिकार नहीं था कि वह प्रजा से मनमाना कर वसूल कर सके। उस पर धर्म की मर्यादा का अंकुश होने के कारण वह केवल धर्मानुकूल कर ही वसूल करने का अधिकारी था। महाभारत में कहा गया है कि राजा को कोष वृद्धि के लिए स्वेच्छापूर्वक कर ग्रहण न करते हुए साम, दाम, दण्ड और भेद आदि (शास्त्र–सम्मत) उपायों से धन प्राप्त करना चाहिए।[48] शान्तिपर्व[49] में स्पष्ट किया गया है – शास्त्र के विपरीत चलने वाला राजा न तो धर्म की सिद्धी कर पाता है, और न अर्थ की ही। जो धन का लोभी राजा मोहवश प्रजा से शास्त्र विरूद्ध अधिक कर लेकर उसे कष्ट पहुँचाता है वह अपने ही हाथों से अपना विनाश करता है। कहा गया है कि राजा धर्म के अधीन है, अतः राजा को अपनी प्रजा से धर्मानुकूल कर ग्रहण करना चाहिए।[50] जैसे दूध चाहने वाला मनुष्य यदि गाय का थन काट ले तो इससे वह दूध नहीं पा सकता, उसी प्रकार राज्य में रहने वाली प्रजा का अनुचित उपाय से शोषण किया जाये तो उससे राष्ट्र की उन्नति नहीं होती।[51] राजा को अपनी प्रजा से कर ग्रहण इस तरह से करना चाहिए कि प्रजा को कर–भार महसूस ही न हो। जैसे जौंक धीरे–धीरे शरीर का रक्त चूसती है उसी प्रकार राजा भी कोमलता के साथ राष्ट्र से कर वसूल करे। जैसे बाधिन अपने बच्चे को दांत से पकड़ कर इधर–उधर ले जाती है, परन्तु न तो उसे काटती है और न ही उसके शरीर में पीड़ा पहुँचने देती है, उसी प्रकार राजा कोमल उपायों से ही राष्ट्र का दोहन करे। जैसे भौरा धीरे–धीरे फूल व वृक्ष का रस लेता है, वृक्ष को काटता नहीं है, जैसे मनुष्य बछड़े को कष्ट न देकर धीरे–धीरे गाय दुहता है, उसके थनों को कुचल नहीं डालता है, उसी प्रकार राजा कोमलता के साथ राष्ट्र रूपी गौ का दोहन करे, उसे कुचले नहीं।[52] अन्यत्र कहा गया है कि राजा को लोगों के आय–व्यय को देखकर ताड़ के वृक्ष से रस निकालने की भॉति उनसे धन रूपी रस लेना चाहिए। अर्थात् जैसे रस के लिए पेड़ को काट नहीं दिया जाता, उसी प्रकार प्रजा का उच्छेद न करें।[53]

करारोपण के नियम

प्रजा के कर ग्रहण करते समय राजा अपने समक्ष किस प्रकार की नीति का आदर्श रखे, महाभारत में इसका उल्लेख हुआ है। भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं – ''महाराज को चाहिए कि वह लोगों की हैसियत के अनुसार भारी व हल्का कर लगावें। राजा को उतना ही कर लेना चाहिए, जिससे प्रजा संकट में न पड़ जाए। उनका कार्य और लाभ देखकर सब कुछ करना चाहिए।''[54] कहीं ऐसा न हो कि राजा अधिक तृष्णा के कारण अपने जीवन के मूल आधार, प्रजाओं के जीवनभूत खेती–बाड़ी आदि का उच्छेद ही कर डाले। यदि राजा अधिक शोषण करने वाला विख्यात हो जाए तो सारी प्रजा उससे द्वेष करने लगती है।[55] जिसकी प्रजा सर्वदा कर भार से पीड़ित हो, नित्य उद्विग्न रहती हो और नाना प्रकार के शोषण का परिणाम यह होगा कि राजा पराभव को प्राप्त होता है।[56] प्रजा के अधिक शोषण का परिणाम यह होगा कि कर देने वाली प्रजा अपने जीवन का आधारभूत व्यवसाय खेती–बाड़ी छोड़कर जायेगी या अन्य उद्योग–धन्धों में सलंग्न लोग अपना व्यवसाय छोड़ देंगे। परिणामस्वरूप आर्थिक उत्पादन बन्द होने लगेगा और राष्ट्र विनाश के कगार पर पहुँच जायेगा। अतः शासक को चाहिए कि वह

जनसाधारण पर आवश्यकता से अधिक करारोपण न करें, क्योंकि अत्यधिक कर भार से प्रजा को कष्ट होगा और जो प्रजावर्ग का प्रिय नहीं होता, उसे कोई लाभ नहीं मिलता, उसका कल्याण नही होता।[57] राजा को परामर्श दिया गया है कि वह प्रजावर्ग का 'कर' के द्वारा शोषण कम करे, क्योंकि जिस गाय का दूध अधिक नहीं दुहा जाता उसका बछड़ा अधिक काल तक उसके दुध से पुष्ट एवम् बलवान होकर भारी भार ढ़ोने का कष्ट सहन कर लेता है, परन्तु जिसका दूध अधिक दुह लिया जाता है, उसका बछड़ा कमजोर होने के कारण वैसा काम नहीं कर पाता।[58]

इसी प्रकार राष्ट्र का भी अधिक दोहन करने से वह दरिद्र हो जाता है, इस कारण वह कोई महान कर्म नहीं कर पाता।[59] अतः राजा को चाहिए कि पहले वह थोड़ी मात्रा में कर वसूल करें (जिससे जनता आर्थिक दृष्टिकोण से सम्पन्न हो अधिक कर देने में सक्षम हो सके) और उसके पश्चात् समयानुसार उसमें थोड़ी–थोड़ी वृद्धि करते हुए कर भार क्रमशः बढ़ाता रहे। जैसे बछड़ो को पहले–पहल बोझ ढोने का अभ्यास भार लादता रहता है, उसी प्रकार प्रजा पर भी कर का भार पहले कम रखे, फिर उसे धीरे–धीरे बढ़ाए। यदि उनको एक साथ नाथकर ऊपरी भारी भार लादना चाहे तो उन्हें काबू में लाना कठिन हो जायेगा।[60]

धनी व्यक्तियों से कर वसूली के नियम

धनवान व्यक्तियों से कर वसूलते समय राजा को चाहिए कि वह उनकों भोजन, वस्त्र और अन्न–पान आदि के द्वारा स्वागत सत्कार करें और उनसे विनयपूर्वक कहे कि आप लोग मेरे सहित मेरी इन प्रजाओं पर कृपा दृष्टि रखे। धनी लोग राष्ट्र के मुख्य अंग है। धनवान पुरुष समस्त प्राणियों में प्रधान होता है, इसमें संशय नहीं है। धनी धर्मनिष्ठ, विद्वान, शूरवीर, तपस्वी, सत्यवादी तथा बुद्धिमान मनुष्य ही प्रजा की रक्षा करते हैं।[61]

आपातकाल में कर वसूली के नियम

राजा को अपातकाल में किस प्रकार कर ग्रहण करना चाहिए, इस सम्बन्ध में कहा गया है कि राजा अपने राज्य का सर्वत्र दौरा करें और लोगों को शत्रु के आक्रमण का भय दिखाते हुए कहें कि इस घोर आपत्ति और दारूण भय के समय में आप लोगों की रक्षा के लिए (ऋण के रूप में) धन मांग रहा हूं। जब यह भय दूर हो जायेगा, उस समय सारा धन मै आप को लौटा दूंगा। शत्रु आकर यहां से बलपूर्वक जो धन लूट ले जायेगे, उसे वे कभी वापस नहीं करेंगे। शत्रुओं का आक्रमण होने पर आपकी स्त्रियों पर पहले संकट आयेगा। उसके साथ ही आपका सारा धन नष्ट हो जायेगा। स्त्री और पुत्री की रक्षा के लिए धन संग्रह की आवश्यकता होती है। इस समय राष्ट्र पर आए संकट को टालने के लिए मैं आप लोगों से आपकी शक्ति के अनुसार ही धन ग्रहण करूंगा, जिससे राष्ट्रवासियों को लोगों से आपकी शक्ति के अनुसार ही धन ग्रहण करूँगा, जिससे राष्ट्रवासियों को किसी प्रकार का कष्ट न हो। जैसे बलवान बैल दुर्गम स्थानों में भी बोझ लेकर पहुँचाते हैं, उसी प्रकार आप लोगों को भी देश पर आई हुई इस आपत्ति के समय कुछ भार उठाना ही चाहिए। किसी विपत्ति के समय धन को अधिक 'प्रिय मानकर' छिपाए रखना आपके लिए उचित न होगा। इस प्रकार स्नेह युक्त और अनुनयपूर्ण मधुर वचनों द्वारा समझा–बुझाकर उपयुक्त उपाय का आश्रय ले अपने पैदल सैनिकों या सेवकों को प्रजाजनों के घर पर धन संग्रह के लिए भेजना चाहिए।[62]

प्रजाजनों को कर का भार अधिक न लगे, इसके लिए कुछ रोचक प्रसंगों द्वारा इसे समझाया गया है। हे राजन! तुम माली के समान बनो। कोयला बनाने वाले के समान न बनो। (माली वृक्ष की जड़ को सींचता है, और उसकी रक्षा करता है, तब उससे फल और फूल ग्रहण करता है, परन्तु कोयला बनाने वाला वृक्ष को समूल नष्ट कर देता है, उसी प्रकार तुम माली के समान बनकर राज्य रूपी उद्यान को सींचकर सुरक्षित रखो, और फल–फूल की तरह प्रजा से न्यायोचित कर लेते रहो। कोयला बनाने वाले की तरह राज्य को जलाकर भस्म न करो)। ऐसा करके तुम दीर्घकाल तक राज्य का उपभोग कर सकोगे।[63] उद्योग पर्व[64] में कहा गया है कि जैसे भौरा फूलों की रक्षा करता हुआ ही उनके मधु को ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजाजनों को कष्ट दिए बना ही उनसे धन ले। जैसे माली बगीचे में एक–एक फूल को तोड़ता है, उसकी जड़ नहीं काटता, उसी प्रकार राजा प्रजा की रक्षापूर्वक उनसे कर ले। राजा को परामर्श दिया गया है कि वह परिस्थित और समय के प्रतिकूल प्रजा पर कर न डालते हुए उसे समझा बुझाकर उचित रीति से कर वसूल करे।[65]

व्यापारियों एवं शिल्पियों से कर वसूलने के नियम

व्यापारियों एवं शिल्पियों पर कर लगाते समय राजा को किन–किन बातो को ध्यान में रखना चाहिए? शान्तिपर्व[66] में इसे स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि राजा को माल की खरीद–बिक्री, उसके मांगने का खर्च, उसमें काम करने वाले नौकरों के वेतन, बचत और योगक्षेम के निर्वाह की ओर दृष्टि रखकर ही व्यापारियों पर कर लगाना चाहिए। इसी तरह माल की तैयारी, उसकी खपत तथा शिल्प की उत्तम, मध्यम श्रेणियों का बार–बार निरीक्षण करके शिष्य एवम् शिल्पकारों पर कर लगाये। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि राजा यदि वैश्यों के लाभ–हानि की परवाह न करके उन्हें कर भार से विशेष कष्ट पहुँचाता है तो वे राज्य को छोड़कर भाग जाते हैं, और वन में जाकर रहने लगते हैं।[67] अतः राजा को इन लोगों के प्रति विशेष कोमलता का बर्ताव करना चाहिए। साथ ही यह महत्वपूर्ण उल्लेख भी ध्यान देने योग्य है कि धनी अपराधी को सम्पत्ति से वंचित कर दिया जाना चाहिए।68 राजा को यह भी परामर्श दिया गया है कि वह व्यापारियों को उनके परिश्रम का फल देता रहे, क्योंकि वे ही राष्ट्र के वाणिज्य व्यवसाय तथा खेती की उन्नति करते हैं।[69] शिल्पी लोग भी अत्यधिक कर भार से ग्रस्त न हो इसके लिए कहा गया है कि राजा शिल्पियों को चौमासे के लिए वस्तु निर्माण की सामग्री राज्य की ओर से प्रदान करे।[70] अतः राजा को चाहिए कि वह उपर्युक्त वर्णित लोगों पर अधिक कर भार आरोपित न करे।[71]

राज्य कर्मचारियों को कर वसूलने के निर्देश

वर्तमान समय में भी जिस प्रकार राज्य कर्मचारी कठोरतापूर्वक लोगों से कर या चूंगी वसूलते समय उन का शोषण करते हैं, उन्हें कष्ट देते हैं, प्राचीन काल में भी यही स्थिति रही होगी, इसीलिए ही भीष्म कहते हैं कि रक्षा कार्य में नियुक्त अधिकारी लोग हिंसक स्वभाव के होकर दूसरे का अहित चाहने लगते हैं और शठतापूर्वक पराए धन का अपहरण करने लगते हैं, अतः राजा को चाहिए कि वह प्रजावर्ग की इन लोगों से रक्षा करे।[72] अन्यत्र भीष्म युधिष्ठिर से कहते है कि महाराज! जो राज कर्मचारी उचित से अधिक कर वसूल करते, कराते हैं वे तुम्हारे हाथ से दण्ड पाने योग्य हैं। दूसरे अधिकारी आकर उन्हें ठीक–ठाक भेंट या कर लेने का अभ्यास करावे।[73]

एक स्थान पर नारद युधिष्ठिर से पूछते है कि राजन! कर वसूल करने का काम करने वाले तुम्हारे कर्मचारी लोग दूर से लाभ उठाने के लिए आए हुए व्यापारियों से ठीक–ठीक कर वसूलते हैं न? (अधिक तो नहीं लेते?) वे व्यापारी लोग आपके नगर और राष्ट्र में सम्मानित हो बिक्री के लिए उपयोगी सामान लाते हैं न? उन्हें तुम्हारे कर्मचारी छल से ठगते तो नहीं?[74]

स्पष्ट है कि राजा को प्रजा से कर वसूलने का कार्य योग्य व्यक्तियों को सौंपना चाहिए। जो कार्य साधन में कुशल नहीं है और काम तथा क्रोध के वश में पड़ा हुआ है, ऐसे मूर्ख व्यक्ति को यदि अर्थ संग्रह का अधिकारी बना दिया जाये तो वह अनुचित उपाय से प्रजाओं को क्लेश पहुँचाता है।[75]

महाभारत में एक स्थल पर इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर अर्थमंत्री की नियुक्ति की बात भी कही गई है। कहा गया है कि जिनमें विनय युक्त बुद्धि, सुन्दर स्वभाव, तेज वीरता, क्षमा, पवित्रता, प्रेय, धृति और स्थिरता हो, उनके इन गुणों की परीक्षा करके यदि वे राजकीय कार्यभार को समभालने में प्रोढ तथा निष्कपट सिद्ध हो तो राजा उनमें से पांच व्यक्तियों को चुनकर अर्थमंत्री बनावे।[76] चूंकि अर्थ सम्बन्धी कार्य अत्यधिक महत्व को होते है, इसलिए राजा को परामर्श दिया गया है कि जो (राजा) स्वयं ही अर्थ सम्बन्धी समस्त कार्य को देखता है, वह चिरकाल तक सुख का उपभोग करता है।[77]

कर–संग्रहण में समान व्यवहार

राजा को निर्देश दिया गया है कि वह केवल कुछ ही लोगों यथा व्यापारी, शिल्पी, कृषक आदि से ही कर वसूल न करें, अपितु उसे सभी से थोड़ा–थोड़ा धन लेना चाहिए जैसे मधुमक्खी अनेक फूलों से रस संचय करती है।[78] प्रजाओं से कर वसूलते समय राजा को ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि वह अत्यन्त गरीब है, इससे प्राप्त कर अत्यल्प है, इससे क्या होगा? जैसे घी से सिंची थोडी सी आग वृहद रूप धारण कर लेती है, छोटा सा बीज बो देने पर सहस्रों बीजों को पैदा करता है, वैसे ही राजा को थोडे से धन का भी अनादर नहीं करना चाहिए।[79] संकटकाल में तो राजा को अत्यन्त निर्धन प्रजा से भी साध्य धन लेकर कोश बढ़ाने का निर्देश दिय गया है।[80] अतः राजा को चाहिए कि सारी प्रजा पर अनुग्रह करते हुए उनसे कर वसूल करे।[81] राजा को चाहिए कि वह केवल कर के द्वारा ही धन का संग्रह न करे, अपितु अन्य उपायों से भी इसका संचय करे। जैसे लोग जंगल से फूल चुनते हैं, उसी प्रकार राजा बाहर से भी धन का संग्रह करे।[82] यह भी उल्लेखनीय है कि आपत्तिकाल में राजा यदि प्रजा को पीडा देकर भी कोश या धन का संग्रह करता है तो उसे पाप नहीं लगता।[83] इसी पर्व में उपर्युक्त कथन के विरोध में यह भी कहा गया है कि आपत्ति के समय भी यदि प्रजा को दुःख देकर धन वसूल किया जाता है तो पीछे वह राज के लिए विनाश के तुल्य सिद्ध होता है।[84]

करों की चोरी

आज के समान, महाभारत काल में भी कभी–कभी लोग निश्चत कर अदा न कर चोरी कर लिया करते थे, या उसे छिपा लिया करते थे अथवा कर दाता स्वयं को अपनी–अपनी सम्पत्ति को राज्य के बाहर छिपा देते थे। तत्कालीन समाज में इस प्रकार करों का भुगतान न करने के अनेक प्रमाण तथा उदाहरण प्राप्त होते हैं।[85] इन अपराधों को रोकने के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था थी।

आय के स्रोत

महाभारत में उल्लेख मिलता है कि कर जिसे राजा प्राप्त करता है वह वस्तुतः राजा का वेतन है। राजा कर से प्राप्त आय से ही प्रजा के योगक्षेम की व्यवस्था करता था। इस काल में भूमिकर आय का प्रमुख साधन था। महाभारत में 1/6 से 1/10 भाग तक, भाग कर भुगतान हेतु निर्धारित किया गया था।[86] शान्तिपर्व[87] में कहा गया है कि प्रजा की आय का छठा भाग कर के रूप में ग्रहण करके, उचित शुल्क या टैक्स कर लेकर, अपराधियों को आर्थिक दण्ड देकर तथा शास्त्र के अनुसार व्यापारियों की रक्षा आदि करने के कारण उनके दिए हुए वेतन लेकर इन्हीं उपायों तथा मार्गों से राजा को धन संग्रह की इच्छा रखनी चाहिए और प्राप्त कर से प्रजा के योगक्षेम की व्यवस्था करनी चाहिए। उपर्युक्त उद्धरण राज्य की आय के साधनों यथा कर, शुल्क, चूंगी और आर्थिक दण्ड से प्राप्त आय आदि पर प्रकाश डाला गया है।

बेनीप्रसाद[88] के अनुसार महाभारत काल में धर्मशास्त्रों की अपेक्षा राजस्व के स्रोत विस्तृत हो गए। महाभारत में यह बताने का प्रयास किया गया है कि राजा क्यों प्रजा से कर लेने का अधिकारी है? तथा खजाना क्यों होना चाहिए। महाकाव्य के सिद्धान्त निर्माताओं द्वारा इस सम्बन्ध में अनेक तर्क दिये गये है। इनके अनुसार राजा अपनी प्रजा का प्रतिनिधित्व करता है तथा आय को सुरक्षित रखने के लिए एक राजकोष होना चाहिए। इस राजकोष को महाभारत में राजनीतिक शरीर का सबसे महत्वपूर्ण तत्व माना गया है। कोश को राजा के अस्तित्व का मूल माना गया है, वह न तो कोश की सहायता के बिना राज्य की रक्षा कर सकता है और न ही अपनी प्रजा को प्रसन्न रख सकता है।[89] इसलिए राजा को व्यक्तिगत तौर पर वित्तीय मामलों पर ध्यान देना चाहिए।[90] कोष की महत्ता के साथ ही महाभारत में प्रजा की आन्तरिक एवं बाह्य खतरों से रक्षा करना राजा का पूर्ण कर्त्तव्य बताया गया है, लेकिन वह राजस्व के बिना अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन नहीं कर सकता।[91] राजस्व सेना को शक्तिशाली बनाने के लिए आवश्यक है, यदि सेना कमजोर है तो राजा राज्य की रक्षा नहीं कर सकता है।[92] इस प्रकार महाभारत के अनुसार राजकोश की समृद्धि साम्राज्य की सुरक्षा की एक माध्यम है।[93]

महाभारतकालीन प्रशासनिक तन्त्र से यह सिद्ध होता है कि राजा ने लोगों से राजस्व की वसूली अपने कर्त्तव्यों को अच्छे प्रकार से निर्वहन के लिए लिया। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि राजस्व को एकत्र करना राजा और राज्य के सीधे नियन्त्रण में नहीं था। गांव के मुखिया गांव वालों से राजस्व एकत्रित करते थे। गॉव के मुखिया द्वारा एकत्रित राजस्व नकद या वस्तु के रूप में राष्ट्र को जमा कराया जाता था, जो कि आगे सर्वोच्च अधिकारियों को तथा अन्त में यह राजस्व केन्द्रीय राजकोष में जमा होता था।

महाभारत में राजस्व से सम्बन्धित अनेक अधिकारियों का उल्लेख मिलता है, जिनमें शुल्कोपाजीविन[94] (टैक्स कलेक्टर), गणक[95], लेखक[96], कोषपाल[97], (कोषागाराध्यक्ष), राजकोषगोप्ता[98] (कोष का संरक्षक) आदि उल्लेखनीय है। यह प्रमाण यह सिद्ध करते है कि राजा ने कर और राजस्व सरकारी ढॉचे द्वारा प्रजा से

लेना प्रारम्भ कर दिया था। महाभारत में कोषगृह[99] का उल्लेख मिलता है, जिसमें राजस्व जमा कराया जाता था तथा अनाज को संगृहित किया जाता था। साधारणतया कर नकद एवं वस्तु दोनों रूप में लिया जाता था। कोष के विषय में महाकाव्य कहते हैं कि राजा को धान्यकोठार में ईमानदार तथा विश्वसनीय अधिकारियों की नियुक्ति करनी चाहिए।

राज्य की आय एवं व्यय को संतुलित करने के लिए बजट का उल्लेख भी महाभारत में मिलता है।[100]

ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकारी यह जानते थे कि अत्यधिक खर्च राजा के राजस्व के लिए एक बोझ हो सकता है, इसलिए खर्च को आय के अनुसार व्यवस्थित करना चाहिए। महाकाव्यों से यह प्रतीत होता है कि घाटे के बजट को उस समय नुकसानदायक माना जाता था। इसलिए राजा को बजट के निर्माण में विशेष ध्यान देना चाहिए, और उसे लोक कल्याणकारी कार्य करके प्रजा को प्रसन्न रखना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. गुप्त शिवकुमार (सम्पा) प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ. 372
2. दृष्टव्य गोयल श्रीराम, मागध–कुषाण साम्राज्यों का युग, मेरठ, पृ. 77 तथा आगे
3. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ. 202
4. रामायण I, बाल 6/5 अयोध्या 1/27
5. वही I, अयोध्या 100/62
6. वही I, अयोध्या 100/63
7. किष्कन्धा 29/11
8. अयोध्या 52/72
9. बाल 18/45, 1/2
10. बाल 7/11
11. अयोध्या 1/26
12. अयोध्या 100/17
13. अयोध्या 100/54
14. अरण्य 6/11, वही। अयोध्या 75/25
15. बाल 5/14, वही। अयोध्या 75/25
16. अरण्य 6/11
17. अरण्य 6/14
18. अयोध्या 82/20
19. अरण्य 10/3
20. बाल 7/11
21. अयोध्या 100/36 की पाद टिप्पणी
22. II, उत्तर 74/32
23. अयोध्या 100/28
24. अयोध्या काण्ड, सर्ग 100 श्लोक 54
25. वही वर्ग 32 श्लोक 44
26. अरण्यक कांड सर्ग 6 श्लोक 11, 14
27. उत्तर काण्ड, सर्ग 14 श्लोक 30
28. वही, सर्ग 74 श्लोक 31
29. अयोध्या सर्ग 75 श्लोक 25
30. अयोध्या 70/19–21, 23 वही। उत्तर 39/8–10
31. बाल 5/14
32. अयोध्या 82/8
33. अयोध्या 15/45
34. अयोध्या 34/56, 10/45
35. अयोध्या 100/56
36. अयोध्या 1/26
37. अयोध्या 100/54
38. अयोध्या 100/53
39. अयोध्या 100/55

40. अयोध्या 100 / 32–33
41. बाल 5 / 7–8
42. अयोध्या 80 / 10–11
43. बाल सर्ग 8
44. अर्थस्वइत्येव सर्वेषां कर्मणा मत्यतिक्रमः। महाभारत आपद्धर्भपर्व, अध्याय 67 श्लोक 12
45. महा. शान्ति, 119 / 16
46. महा. शान्ति, 130 / 12
47. महा. शान्ति, 133 / 4
48. महा. शान्ति, 69 / 24
49. महा. शान्ति, 71 / 14–15
50. महा. शान्ति, 71 / 11
51. महा. शान्ति, 71 / 17
52. महा. शान्ति, 84 / 4–5
53. महा. शान्ति, 120 / 9
54. महा. शान्ति, 87 / 15–16
55. महा. शान्ति, 87 / 18–19
56. महा. शान्ति, 139 / 109
57. महा. शान्ति, 87 / 20
58. महा. शान्ति, 87 / 21
59. महा. शान्ति, 87 / 22
60. महा. शान्ति, 88 / 7–9
61. महा. शान्ति, 8 / 29–31
62. महा. शान्ति, 87 / 26–34
63. महा. शान्ति, 71 / 20
64. महा. शान्ति, 34 / 17–18
65. महा. शान्ति, 88 / 12
66. महा. शान्ति, 87 / 13–14
67. महा. शान्ति, 87 / 36
68. महा. शान्ति, 85 / 20
69. महा. शान्ति, 87 / 38
70. महा. शान्ति, 5 / 119
71. महा. शान्ति, 87 / 39
72. महा. शान्ति, 87 / 12, 1 / 2
73. महा. शान्ति, 88 / 26
74. महा. शान्ति, 5 / 1 / 115–116
75. महा. शान्ति, 71 / 9
76. महा. शान्ति, 83 / 21–22
77. महा. शान्ति, 92 / 19
78. महा. शान्ति, 120 / 34
79. महा. शान्ति, 120 / 36, 38
80. महा. शान्ति, 130 / 13
81. महा. शान्ति, 120 / 138
82. महा. शान्ति, 120 / 11
83. महा. शान्ति, 130 / 36–44
84. महा. शान्ति, 130 / 9
85. महाभारत, शान्ति पर्व अध्याय 56 श्लोक 44–45
86. महाभारत, शान्ति पर्व अध्याय 71 श्लोक 10
87. वही, शान्ति पर्व 71 / 10–11
88. बेनीप्रसाद, द स्टेट इन एन्शियट इण्डिया, पृ. 96
89. महाभारत, CXIII 16, शान्ति पर्व, CXIX, CXXX

90. वहीं शान्ति पर्व LXXXVIII.20
91. वही शान्ति पर्व CXXVIII.35
92. वही शान्तिपर्व CXXXVIII.11
93. वही LVIII, 8; आश्रम, XII.8
94. वही, V. 62
95. वही, सभापर्व V. 62
96. महाभारत, V. 62
97. वही, आश्रम, XXIX.21
98. वही, सभापर्व, LXXXIII, 2-8
99. वही सभापर्व VI.57, CXVI.20
100. महाभारत, उद्योग XXX.26

परिशिष्ट– द्वितीय

पारिभाषिक शब्दावली

अकरद	:	अर्थशास्त्र एवं वाकाटक अभिलेखों में उल्लेखित कर मुक्त भूमि।
अकरदायी	:	वह व्यक्ति जो सामान्यतः सभी प्रकार के करों से मुक्त हो।
अग्रहार	:	ब्राह्मणों को उनकी जीविकार्थ अथवा उनके बसने के लिए अथवा किसी धार्मिक उद्देश्य से दी गई कर मुक्त भूमि अथवा ग्राम।
अचाटभटप्रावेश्य	:	ब्राह्मणों को दिया गया भूमिदान, जिसको राजा के नियमित और अनियमित सैनिकों के प्रवेश से मुक्त रखा जाता था।
अत्यय	:	वस्तुओं को निर्धारित मूल्य से अधिक कीमत पर बेचने अथवा राजकीय खेतों की वस्तुओं के अवैध क्रय–विक्रय करने पर अथवा राज्य द्वारा निर्धारित स्थानों के अतिरिक्त अन्य स्थानों से सामान खरीदने वालों के लिए निर्धारित आर्थिक दण्ड।
अभ्यन्तर सिद्धि	:	ग्रहीता को गाँवों के आन्तरिक विवादों के निपटारा करने का अधिकार।
अदेवमातृक	:	वह भूमि जिसमें बिना वर्षा के भी अच्छी खेती हो।
अन्यजात	:	आकस्मिक आय का साधन, जिसमें खोई हुई एवं भूली हुई वस्तुओं का मिलना आदि सम्मिलित होता है।
अपुत्रिकाधन	:	पुत्र न होने पर पुत्री के पुत्र को उत्तराधिकारी नियुक्त करने पर राज्य का कर।
अर्थचर	:	नगद (रोकड़) संभालने वाला वित्त विभाग का अधिकारी
अवल्गक	:	कभी–कभी जब सेना और राजा आक्रमण करने के लिए निकलते थे, तो प्रजा को उनके लिए खाद्य सामग्री का प्रबन्ध करना होता था, इसे अवल्गक कहते थे।
अग्रहत	:	गुप्त अभिलेखों में उल्लिखित बंजर या अनुपजाऊ भूमि।
अक्षपटल	:	आय–व्यय की जाँच और उनका हिसाब रखने के लिए समाहर्ता के अधीन

लेखा विभाग (वित्त कार्यालय) को अक्षपटल कहा जाता था।

अक्षपटलप्रस्थ : अक्षपटल नामक कार्यालय के व्यय के लिए ग्रामवासियों द्वारा एक प्रस्थ अनाज की दर से दिया गया अंशदान, अक्षपटल प्रस्थ कहलाता था।

अक्षपटलाध्यक्ष : आपटल नामक विभाग का सर्वोच्च अधिकारी, जो अक्षपटलाधिकृत अक्षपटलाधिपति, अक्षपटलिक, अक्षपटली आदि नाम से भी जाना जाता था।

आकर : खानों के निकलने वाली वस्तुओं पर कर।

औपयानिक : अर्थशास्त्र में उपहारों से राजा को प्राप्त होने वाली आय को औपयानिक कहा गया है।

आकराध्यक्ष : अर्थशास्त्र में उल्लेखित खान–विभाग का अध्यक्ष।

आग्रहारिक : गुप्तकालीन तथा परवर्ती अभिलेखों में उल्लिखित अग्रहार के विशेष प्रभारी अधिकारी का बोधक एक तकनीकी पदनाम।

आयुक्तक : गुप्त अभिलेखों में उल्लिखित भूमि–प्रशासन से सम्बन्धित अधिकारी।

आयुक्तक पुरूष : समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में आयुक्तक का उल्लेख, समुद्रगुप्त द्वारा पराजित विभिन्न राजाओं के धन को वापस करने के लिए नियुक्त अधिकारी के अर्थ में हुआ है।

उत्संग : भट्टस्वामी के अनुसार उत्संग वह देय वस्तु या राशि है, जो नगर तथा ग्रामवासियों द्वारा राज्य को राजकुमार के जन्म दिवस जैसे उत्सव के अवसरों पर दिया जाता था। यह सामाजिक कर था।

उदकभाग : कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सिंचाई के प्रयोजनार्थ जल की आपूर्ति करने के लिए लिया जाने वाला कर।

उद्रंग : गुप्त एवं गुप्तोत्तरकालीन अभिलेखों के उल्लिखित कर। यू. एन. घोषाल के अनुसार यह स्थायी कृषकों से उद्गृहीत कर था।

उपरिकर : गुप्त एवं गुप्तोत्तरकालीन अभिलेखों के उल्लिखित कर। यू. एन. घोषाल के अनुसार यह स्थायी कृषकों से उद्गृहीत कर था।

उपक्लृत : वाकाटक अभिलेखों में प्रयुक्त शब्द। मैती के अनुसार यह जखीरों में राजा के भाग के लिए प्रयुक्त हुआ है।

क्लिप्त : नदी–तट, समुद्र–तट, झीलों के किनारे बसे ग्रामवासियों से लिया जाने वाला कर। (कोई नियत कर नहीं)

कर : यू. एन. घोषाल के अनुसार कर एक साधारण सम्पत्ति कर था, जो समय–समय पर वसूल किया जाता था।

कल्याणधन : माँगलिक अवसरों पर लिया जाने वाला कर।

क्लप्त : वाकाटक अभिलेखों में प्रयुक्त शब्द, मैती के अनुसार यह जखीरों में राजा के भाग के लिए प्रयुक्त हुआ है। (नियतकर)

कौष्ठेयेक : अर्थशास्त्र में राजकीय भण्डारों से होने वाली आय को कहा गया है।

खलभिक्षा : गुर्जर–प्रतिहार अभिलेखों में उल्लेखित। यह सामान्य अन्न भाग के अतिरिक्त खलियान में एकत्रित अन्न से वसूल किया गया उपज अंश था।

खण्डनी	:	ऋग्वेद (7–18–19) में विजित शत्रु एवं सरदारों से राजा को जो कर प्राप्त होता था उसे खण्डनी कहा गया है।
खर्वटिक	:	अर्थशास्त्र में दो सौ गाँवों के समूह को खर्वटिक कहा गया है
गुल्मदेय	:	सैनिक अथवा पुलिस चौकी में दिया जाने वाले उपकर को अर्थशास्त्र में गुल्मदेय कहा गया है।
घाटकर	:	नदी पार करने में सरकारी नाव के उपयोग के कारण यह कर वसूल किया जाता था।
चतुर्थ–पंचभागिकम्	:	अर्थशास्त्र में उल्लेखित ऐसे व्यक्ति, जो राज्य द्वारा बीज तथा कृषि के अन्य उपकरण दिये जाने पर उपज के चौथे अथवा पाँचवें अंश के लिए राजकीय भूखंडो पर खेती करते थे।
चौरोद्धरण	:	गाँव वालों की चोरों से रक्षा करने के लिए राजा द्वारा वसूल किया जाने वाला कर।
चौल्लक	:	एक वित्तीय शब्द, जो प्रत्येक पान के पत्तों की गठरी पर जो चौल्लक भार (एक प्रकार का माप) की होती थी, 50 पत्ते कर के रूप में लिए जाते थे।
चौरज्जु	:	यह एक वित्तीय शब्द है, जो ग्राम सीमाओं के अध्यक्ष द्वारा वसूल किए गए शुल्क का द्योतक है। अथवा चोरों को पकड़ने के लिए लोगों से प्राप्त होने वाली राजकीय आय का सूचक।
तुंडिय	:	जातकों में उल्लिखित कर संग्राहकर अधिकारी, जो लोगों को मारपीट कर बलि वसूल करते थें।
तर	:	मौर्यकाल के मल्लाहों द्वारा वसूल किए जाने वाले नौका शुल्क को 'तर' तरपण्य तथा तरदेय आदि नामों से जाना जाता था।
तुल्यमेय	:	राजा का सामान्य जिन्सी राजस्व, जिसे तौला या मापा जा सके।
दशापराध	:	इसका शब्दिक अर्थ है दस अपराध, अर्थात दस संज्ञेय अपराधों पर लगाए गए न्यायिक जुर्माने।
दशबध	:	चाहमान अभिलेखों में उल्लिखित आय का दसवाँ भाग।
द्वारदेय	:	अर्थशास्त्र में उल्लिखित नगर द्वार पर वसूल किया जाने वाला शुल्क।
देवदान	:	करमुक्त जमीन जो उपहार मे ब्राह्मणों के मंदिर के देवताओं के नाम दी जाती थी।
द्रोणमापक	:	जातकों में उल्लिखित अन्नागार में वसूली के समय द्रोण नामक माप से राजकीय अन्नभाग को मापने वाला अधिकारी। दीक्षितार के अनुसार यह मुख्य कर संग्राहक था, जिसकी तुलना वर्तमान वित्तमंत्री से की जा सकती है।
देवाग्रहार	:	वलभी के मैत्रक शासकों के भूमिदानपत्रों में उल्लेखित देवालय को दान में दिया गया लगान मुक्त गॉव।
देवविहार	:	वलभी के मैत्रक शासकों के भूमिदान पत्रों में उल्लिखित देवालय अथवा धार्मिक संस्थान द्वारा अधिकृत भूमिं।
द्रव्यकर	:	जैन ग्रन्थों में उल्लिखित वस्तुओं पर कर, अर्थात् गायों, भैंसों, ऊँटों अन्य घरेलू पशुओं, बकरियों, बैलों तथा विविध वस्तुओं प लगाया गया कर।

दिविस्पति	:	गुप्तकालीन अभिलेखों में उल्लिखित हिसाब–किताब रखने वाला अधिकारी।
धान्य	:	गुप्तकालीन अभिलेखों में प्रयुक्त शब्द, जिसका अर्थ है – में राजा का हिसा
धर्म षड्भाग	:	पुण्य का छठा भाग, जो तपस्वियों आदि से राजा को उसके कर के रूप में मिलता था।
ध्रुवाधिकरण	:	कृषकों में भूराजस्व के रूप में निश्चित अन्न भाग वसूल करने वाला अधिकारी
नदीपाल	:	कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार नदियों का पर्यवेक्षक था। इसका प्रमुख कार्य नदियों अथवा झीलों के किनारे पर बसे गाँवों से निश्चित कर वसूल करना था।
नवनिधान	:	नौ जखीरों पर लिया जाने वाला कर। (लल्लन जी गोपाल)
नष्टिभरट	:	सम्भवतः पुत्र न होने पर विधवा को सम्पति पर राज्य का कर (लल्लन जी गोपाल)
नीवि	:	स्थायी पूंजी, जिसके सूद से कोई खर्च विशेष हमेशा पूरा किया जाये।
निविधर्म	:	मूल के क्षय न होने की शर्त पर स्थायी रूप से सम्पत्ति प्रदान करने की प्रथा अथवा कानून जिसमें आदाता केवल उस सम्पत्ति से होने वाली आय का फलोपभोग करता है। दूसरे शब्दों में निविधर्म का अर्थ है हस्तांतरण अधिकार रहित शाश्वत दान।
परिहार	:	कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार राजस्व छूट अथवा करों के भुगतान से पूर्ण अथवा आंशिक छूट को परिहार कहा जाता था।
पण्यगृह	:	कौटिल्य के अर्थशास्त्र में व्यापारिक वस्तुओं को रखने के लिए प्रयुक्त गोदाम को पण्यगृह कहा गया है।
पट्टन (पत्तन)	:	कौटिल्य के अर्थशास्त्र में यह शब्द बंदरगाहों पर व्यापारियों से वसूल की जाने वाली चुंगीके लिए प्रयुक्त हुआ है।
पौतव	:	तौल एवं माप के साधनों को प्रमाणित करने के लिए, राज्य द्वारा वसूल किया जाने वाला कर।
पण्य संस्था	:	राजकीय दुकान, जहाँ पण्याध्यक्षों द्वारा माल बेचा जाता था
पत्तर्न	:	राज्य में विद्यमान विविध पत्तनों (कस्बों) से प्राप्त किया जाने वाला कर।
पिण्डकर	:	अर्थशास्त्र में उल्लिखित शब्द, जिसे भट्टस्वामी ने सम्पूर्ण ग्राम से वस्तु रूप में वसूल किया जाने वाला वार्षिक कर माना है।
पार्श्व	:	अर्थशास्त्र में उल्लिखित अतिरिक्त कर।
प्रसाद–लिखित	:	जब राजा किसी की सेवा, शौर्य आदि से प्रसन्न होकर उसे अनुदान स्वरूप कोई जिला या ऐसा ही कोई क्षेत्र प्रदान करता है, तो उसे प्रसाद–लिखित अनुदान कहते हैं (बृहस्पति)
प्रणय	:	आपात–कालीन कर। जब राज्य को अतिरिक्त धन की आवश्यकता होती थी, तब वह साधारण करो के अतिरिक्त प्रजा को कुछ अधिक धन देने के लिए बाध्य करता था। इस धन को प्रणय कहा जाता था।
प्रतिकर	:	करों के बदले ग्रामवासियों द्वारा अलग–अलग तथा सामूहिक रूप में अनाज,

		पशु, नगद, बेगार और क्षतिपूर्ति के रूप में दिया गया अंशदान।
प्रतिभाग	:	यह वह कर भाग था, जो ग्रामीणों को राजा अथवा राजकीय अधिकारियों के गाँवों में पधारने पर आदर सत्कार फल–फूल भेंट, ठहरने और रहने की व्यवस्था के रूप में करना होता था।
प्रस्थक	:	प्रतिहार दानपत्रों में उल्लिखित शब्द। ग्रामवासियों के द्वारा संबद्ध अधिकारियों के लिए प्रतिस्थ माप के आधार पर दिया गया अंशदान।
बलि	:	वैदिक संहिताओं एव ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित ऐच्छिक भेंट, जो कालान्तर में अनिवार्य अंशदान में परिवर्तित हो गई। जातकों में बलि का अर्थ ऐसा टैक्स लगाया है, जिसे देने से प्रजा को बहुत कष्ट होता था। अर्थशास्त्र में बलि का अर्थ वह उपकर प्रतीत होता है, जो राजा उपज के भाग के अतिरिक्त प्रजा से लेता था। मिलिन्दपन्हों में बलि का उल्लेख संकटकालीन कर के रूप में हुआ है।
बहिरिकादेय	:	गणपति शास्त्री की टीका (अर्थशास्त्र) के अनुसार यह ठगों, फरेबियों, नटों, नृतकों आदि से होने वाली आय थी।
ब्रह्मदेय	:	ऋत्विक, आचार्य, पुरोहित तथा श्रोत्रिय आदि विशिष्ट ब्राह्मणों को देने योग्य भूमि अथवा ग्राम जो कर तथा जुर्माने से मुक्त होती थी।
भाग	:	वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित एक प्रकार का कर। अर्थशास्त्र के अनुसार यह उपज में राजा का प्रथागत अंशभाग था, जो सामान्यतः उपज का षष्ठांश होता था। मौर्योत्तर तथा गुप्तकाल में 'भाग' प्रधान भूमिकर प्रतीत होता है।
भागदुध	:	शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखिति रत्नियों में से एक, जो राज्य कर को वसूल करता था।
भागभोग	:	गुप्तोत्तरकालीन भूमिदान पत्रों में उल्लिखित शब्द, जिसका अर्थ माल के रूप में दिये जाने वाला कर लगाया जाता है।
भागभोगकर	:	गुप्तोत्तरकालीन भूमिदान पत्रों में प्रयुक्त शब्दावली। घोषाल ने इसे अनाज के उत्पादन में राजा के हिस्से के रूप में परिभाषित किया है।
भोग	:	अभ्यगणी के अनुसार भोग का अर्थ ऐसी सामग्री थी, जो विशिष्ट अवसरों पर राजा को भेंट में दी जाती थी। सर्वज्ञनारायण ने मनुस्मृति की टीका में इसे राजा को प्रतिदिन फल, फूल, शाक आदि के रूप में दी जाने वाली भेंट कहा है।
भुक्ति	:	गुप्तकाल में प्रान्त को भुक्ति कहा जाता था।
भूतवातप्रत्याय	:	झंझावत, भूकम्प, नदियों के प्रवाह में होने वाले परिवर्ततनों से होने वाली आय।
भूमिच्छिद्रन्याय	:	बंजर भूमि का नियम अथवा भूमि में होने वाले छिद्र पाटने का नियम, अर्थात् वह पूर्ण स्वामित्वाधिकार का दान, जो बंजर भूमि को पहले–पहले उपजाऊ बनाने वाले व्यक्ति को अर्जित होता था। ऐसी भूमि कर मुक्त होती थी।
भाँडागारिक	:	राजकीय भाँडागार का अध्यक्ष।
मायक	:	अर्थशास्त्र में उल्लिखित राजकीय अन्नभाग को तौलने वाला।
मापक	:	अर्थशास्त्र में उल्लिखित अन्न के तौल का पर्यवेक्षक, जो राजकीय अन्नागार

		में राजा को अन्न भाग के रूप में दिया जाता था।
महत्तर	:	गुप्तकालीन भूमि–विक्रय शासन पत्रों में उल्लिखित भूमि संव्यवहार (लेन–देन) से सम्बन्धित अधिकारी।
मेय	:	गुप्तकालीन भूमिदान पत्रों में उल्लिखित शब्द, जिसका अर्थ कृषि भूमि से वस्तु रूप में प्राप्त होने वाला राजस्व लगाया जाता है।
योग–क्षेम	:	व्यापार के शुद्ध लाभ पर लगाया गया कर।
रज्जु	:	अर्थशास्त्र में उल्लिखित माप की इकाई जिसका उपयोग भू–कर सम्बन्धी सर्वेक्षणों में किया जाता था। (एक रज्जू दस दंड, एक दण्ड 4 अरत्नियाँ) (प्रजापति का हाथ)
रज्जुगाहक अमच्य	:	जातकों में उल्लिखित भूमि सर्वेक्षण अधिकारी।
रूपदर्शक	:	अर्थशास्त्र में उल्लिखित सिक्कों का परीक्षक।
लक्षणाध्यक्ष	:	अर्थशास्त्र में उल्लिखित टकसाल का अध्यक्ष, जो निजी आदेश पर सिक्कों के निर्माण के लिए राज–कर वसूल करता था।
लवणाध्यक्ष	:	अर्थशास्त्र में उल्लिखित नमक का अध्यक्ष नामक अधिकारी, जो निजी तौर पर नमक बनाने वालों से राजा का हिस्सा (लवणभाग) तथा लगान (प्रक्रय) वसूलता था। मौर्यकाल में नमक के निर्माण पर राज्य का एकाधिकारी था।
विष्टि	:	बेगार, निःशुल्क श्रम, करों के बदले में अथवा करों के अतिरिक्त निःशुल्क सेवा, जो ग्रामवासियों को राजा अथवा जमींदार के लिए करनी पड़ती थी।
वणिक्	:	जनपद क्षेत्र के वणिकों से पण्यपदार्थों के क्रय–विक्रय पर राज्य को प्राप्त होने वाले कर को वणिक् कहा जाता था।
वर्तनी (पारवहन शुल्क)	:	यह राजमार्गों का उपयोग करने तथा मार्गों पर राज्य द्वारा रक्षा प्रदान करने की एवज में वसूल किया जाने वाला शुल्क था, जो सीमाशूल्क अधिकारियों द्वारा वसूल किया जाता था।
व्रज	:	पालतू पशुओं (गाय, भैंस, बकरी, घोड़े व खच्चर आदि) के समूह, जो चरागाह का उपयोग करते थे, से प्राप्त होने वाली आय।
वणिक पथ	:	अर्थशास्त्र के अनुसार मार्गों के उपयोग करने वाले वणिकों से होने वाली आय।
व्याजी	:	अर्थशास्त्र में उल्लिखित क्षतिपूर्ति शुल्क।
वास्तुक	:	राज्य अचल सम्पत्ति की बिक्री पर कर वसूल करता था, जिसे वास्तुक कहा जाता था।
विवीत कर	:	अर्थशास्त्र के अनुसार सरकारी चरागाह के उपयोग के बदले पशु मालिकों से लिया जाने वाला कर।
वार्ता	:	अर्थशास्त्र में कृषि, पशुपालन और व्यापार से संबद्ध विद्या को वार्ता कहा गया है।
श्रोत्रिय	:	ऐसे ब्राह्मण जिन्हें वेदों का अच्छा ज्ञान था।
श्लाका प्रतिगाहक	:	अर्थशास्त्र में उल्लिखित अधिकारी, जो राजकीय अन्नागार में राजभाग के तौल के समय चिन्हार्कित करने के लिए उपयोग में आने वाले काष्ठपट्टों का

		संग्रह करता था।
शुल्क	:	अर्थशास्त्र में इसे मुख्य नगर में आयातित वस्तुओं पर लगाया गया कर और बंदरगाह शुल्क के रूप में परिभाषित किया है।
शौल्किक	:	पथकर तथा सीमाशुल्क का अधीक्षक।
स्वजीर्योपजीवी	:	कौटिल्य के अनुसार कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में राजा के खेतों में खेती करने वाले श्रमजीवी, जो कृषि उत्पादन का चतुर्थांश अथवा पंचमाँश प्राप्त करते थे।
संग्रहीता	:	वैदिक संहिताओं में उल्लिखित कोषाधिकारी।
समाहर्ता	:	अर्थशास्त्र में उल्लिखित राजस्व की सभी शाखाओं से कर वसूलने वाला मुख्य अधिकारी (राजस्व मंत्री)
सन्निधाता	:	समाहर्ता का पूरक अधिकारी सन्निधाता होता था, जो राजस्व के जमा होने पर राजकोष में उसके आने पर उसकी जिम्मेदारी संभालता था। (कोष मंत्री)
सूना	:	अर्थशास्त्र में उल्लिखित बूचड़खाने से प्राप्त होने वाली आय।
सूत्र	:	राज्य की ओर से शिल्पियों, कैदियों तथा असहाय व्यक्तियों से सूत कातने और वस्त्र बनाने आदि के जो काम कराये जाते थे, उससे प्राप्त होने वाली आय को सूत्र कहा जाता था।
सीता	:	राजकीय कृषि क्षेत्र से होने वाली उपज के करों को सीता कहते थे, जिसे सीताध्यक्ष वसूलता था।
सेतु	:	पुष्पों और फूलों के उद्यान, शाक सब्जी के खेतों से और मूलों (मूली, शलजम, कन्द आदि) के खेतों से जो आय होती थी, उसे सेतु कहते थे।
सेनाभक्त	:	अर्थशास्त्र के अनुसार राजकीय सेना के प्रयाण के समय ग्रामवासियों को उनके लिए दिया गया घी, धान्य, चावल, तेल आदि खाद्य सामग्री को सेनाभक्त कहा जाता था।
सेतुबन्ध	:	मौर्यकाल में नदियों, सरों और तटाकों पर जल को रोककर बाँध बनाये जाते थे, जिसे सेतुबन्ध कहा जाता था।
हिरण्य	:	घोषाल के अनुसार यह कुछ विशिष्ट प्रकार की फसलों पर लगाया गया नगद कर था, जो साधारण फसल पर लगाये गये जिन्सी–कर से भिन्न था।
हलसदि	:	हलों पर लिया जाने वाला कर तुलनीय हलिकाकर (हल पर कर)
हिरण्यसामुदायिक	:	विजयसेन के मल्लसरूल ताम्रफलक में उल्लिखित महत्तवपूर्ण राजवित्तीय अधिकारी, जिसे नकदी कर वसूल करने का कार्यभार सौंपा जाता था।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(BIBLIOGRAPHY)

मूल ग्रन्थ

अग्नि पुराण (कल्याण अंक)	:	वेद व्यास प्रणीत, संषोधक व अनुवादक श्री रामनारायण दत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम' गीता प्रेस गोरखपुर, 1970
अग्नि पुराण (मूल संस्कृत में)	:	उपाध्याय आचार्य बलदेव, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1966
अग्नि पुराण 'ए स्टेडी'	:	ज्ञानी, एस.डी. चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1964
अथर्ववेद	:	सम्पादक सातवलेकर, एस.डी. स्वाध्याय मण्डल आन्ध्र कार्यालय, सतारा, 1939
अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण	:	सम्पादक ब्लूमफील्ड एस. अनु. सूर्यकान्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1964
अथर्ववेद संहिता (सायण भाष्य	:	सम्पा. हिन्दी अनुवाद शर्मा, पं. रामस्वरूप गौड़,
सहित)		चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1990
अमरकोष	:	सम्पा. शास्त्री गुरु प्रसाद, मास्टर खिलाड़ी लाल एण्ड सन्स, बनारस, 1950
अष्टादष स्मृति	:	भाषा टीका पं. मिहिर चन्द संषोधन एवं परिवर्धन सिंह, नाग शरण, नाग प्रकाषन, दिल्ली, 1990
अवदान शतक	:	जे.एस. स्पेयर डेविड्स द्वारा सम्पादित, 1958
अट्ठषालिनी	:	सम्पा. ई. मूलर, पाटे.सो. लन्दन, 1879, अंग्रेजी अनुवाद (द एक्सपोजिटर) मौं गतिन द्वारा, लन्दन, 1920–21
अभिज्ञान शाकुन्तलम्	:	कालिदास कृति, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 1947
अवदानषतकम्	:	सम्पा. जे. स्पेयर, सम्पा. पी.एल. वैद्य, दरभंगा, 1958
अंगुत्तर निकाय	:	सम्पा. भिक्खू जगदीष कस्यप, पालि प्रकाषन, बिहार सरकार, 1960
आपस्तम्ब श्रौत सूत्र (रुद्रदत्त की	:	सम्पा. रिचर्ड गार्बे 3 खण्ड, कलकत्ता,
टीका सहित)		1892–1902
आपस्तम्ब श्रौत सूत्र (रुद्रदत्त की	:	अनु. डब्ल्यू कालड़ि 3 खण्ड, गार्तिटजन
टीका सहित)		लिपजिंग एम्सटडीम, 1921–1928
आपस्तम्ब श्रौत सूत्र	:	अंग्रेजी अनु. सेकर्ड बुक ऑफ ईस्ट, 2 जी व्यूहलर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1965
आपस्तम्बधर्मसूत्र	:	सम्पा. जी. बुलर, बम्बई, 1932, जी. बुलर द्वारा आपस्तम्ब, गौतम, वषिष्ठ तथा बौधायन का अनुवाद; से.बु.ई. खण्ड–2, तथा 14 में ऑक्सफोर्ड, 1872–92
आचारांग सूत्र	:	अनु. जैकोबी, ऑक्सफोर्ड, 1884
ऋग्वेद	:	अनु. त्रिवेदी पं. रामगोविन्द, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1991
ऋग्वेद संहिता (सायणाचार्य भाष्य	:	सम्पा. विष्वबन्धु हिन्दी अनु. जयदेव विद्यालंकार,

सहित) सातबलेकर औंध कार्यालय, सतारा, 1940

ऋग्वेद भाष्य : स्वामी दयानन्द, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

ऐतरेय ब्राह्मण (सायण भाष्य : सम्पा. व अनु. मालवीय, डॉ. सुधाकर, तारा

सहित खण्ड 1–2) प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी, 1983

ऐतरेय ब्राह्मण (सायण भाष्य सहित) : अनु. ए.वी. कोथ हारवर्ड, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1936

ऋतुसंहार : कालिदासकृत, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 1952

कथासरित्सागर : सोमदेवकृत अंग्रेजी अनु. (द ओषन ऑफ स्टोरी) सी.एच. टैनी द्वारा तथा सम्पा. एम. पंजर, दस खण्ड, लन्दन, 1924

कात्यायन–स्मृतिसारोद्धार, : सम्पा. पी.वी. काणे, पुनर्गठित मूल पाठ, अनुवाद,

कात्यायन–स्मृति आन व्यवहार, टिप्पणी तथा भूमिका सहित, बम्बई, 1963

लॉ. एण्ड प्रोसीजर

कात्यायन स्मृति : एन.सी. बन्दोपाध्याय द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, 1927

काठक संहिता : सम्पा. शर्मा, श्रीपाद स्वाध्याय मण्डल, पावड़ी, 1943

कामंदकीय नीतिसार : संकलनकर्त्ता मिश्रा, ज्वाला प्रसाद, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, 1961

कामसूत्र (यषोधर की : सम्पा. व हिन्दी अनु. शास्त्री श्री देवदत्त, चौखम्बा

जयमंगला टीका सहित) संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि.सं. 2049

कामसूत्र : वात्स्यायनकृत, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1900; के.आर. आयंगर द्वारा अंग्रेजी अनु., लाहौर, 1891

कुमार सम्भव : कालिदासकृत, निर्णय सागर प्रेस बम्बई

कौटलीयम् अर्थषास्त्रम् : अनु. शास्त्री उदयवीर, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली–6, 1970

कौटिलीयम् अर्थषास्त्रम् : हिन्दी व्याख्या, गौरोला वाचस्पति, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1996

कौटिल्य–अर्थषास्त्र : आर. शामषास्त्री द्वारा सम्पादित, अंग्रेजी अनुवाद, पंचम संस्करण, मैसूर, 1956

दि कौटिल्य अर्थषास्त्र : काँगले द्वारा सम्पादित भाग 1, 2, 3 बम्बई

कौटिल्य अर्थषास्त्र : भट्ट स्वामी कृत प्रतिपदपंचिका भाष्योपेतम् के.पी. जायसवाल तथा ए. बैनर्जी द्वारा सम्पादित, 1925

कौटिल्ल अर्थषास्त्रम् : रामतेज शास्त्री, संस्कृत–हिन्दी

कौटिल्यम् अर्थषास्त्रम् : गणपति शास्त्री, संस्कृत, टीका सहित

कल्पसूत्र : अंग्रेजी अनुवादक जैकोबी, से.बु.ई., 22, वाराणसी, 1964

गरुड़ पुराण : भाष्यकार, आचार्य श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली–3, 1984

गरुड़ पुराण : सम्पा. भट्टाचार्य, डॉ. रामषंकर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1964

गरुड़ पुराण (एक अध्ययन) : डॉ. अवस्थी, अवध बिहारी लाल, कैलाष प्रकाषन, लखनऊ, 1968

गाथा सप्तषती : सम्पा. तथा अनु. एन. चतुर्वेदी, बनारस, 1961

गौतम धर्मसूत्र :अंग्रेजी अनुवाद, सैकर्ड ऑफ ईस्ट, 2, जी व्यूहलर, दिल्ली, 1965

गौतम धर्मसूत्र : श्रीनिवासाचार्य द्वारा सम्पादित, मैसूर, 1917

गौतम धर्मसूत्र : हरदत्त प्रणीत मिताक्षरा व्याख्या सहित, चौखम्बा, वाराणसी

तैत्तिरीय ब्राह्मण : सम्पा. आप्टे, एच.एन. आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1958

नारद पुराण : महर्षि वेदव्यास प्रणीत, वेंकटेष्वर प्रेस, बम्बई, 1980

निरुक्त : यास्क, पंजाब विष्वविद्यालय, लाहौर, 1934

नीतिषतकम् : भर्तृहरि, व्याख्याकार द्विवेदी, डॉ. सत्यनारायण एवं डॉ. सुमन मिश्रा, सुरभारती प्रकाषन, कानपुर, 1990

नीतिवाक्यामृतम : सोमदेव सूरि विरचित, अनु. गुप्ता, डॉ. सुधीर कुमार, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 1987

नारद स्मृति : सम्पा. जे. जोली, कलकत्ता, 1885; जे. जोली का अंग्रेजी अनु. से.बु.ई., 33, ऑक्सफोर्ड, 1889

नामलिंगानुषासनम् : अमरसिंहकृत (अमरकोष), क्षीरस्वामी की टीका के साथ (सं.) एच.डी. शर्मा तथा एन.जी. सरदेसाई, पूना, 1941

पाणिनीसूत्र, पाठ तथा : एस. पाठक तथा एस. चित्राओ द्वारा संकलित,

परिषिष्ट शब्द सूची के साथ पूना, 1935

पारासर स्मृति : शर्मा पं. भीमसेन, बी.एन. प्रेस, इटावा, 1935

पंचतन्त्र : विष्णु शर्मा, व्याख्याकार पाण्डेय, श्यामा चरण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–7, 1975

पुराण विमर्ष : उपाध्याय, बलदेव, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1987

पुराण विषयानुक्रमणी : पाण्डेय, राजबली, हिन्दू विष्वविद्यालय, वाराणसी, 1957

बीस स्मृतियाँ भाग 1–2 : व्याख्याकार, आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली–3, 1994

बृहस्पति समृति : स.के.बी., रंगास्वामी आयंगर, ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1954

ब्रह्मवैवर्त पुराण भाग 1–2 : आनन्दाश्रम, पूना, 1935

ब्रह्माण्ड पुराण, खण्ड 1–2 : सम्पा. गौतम, चमनलाल, संस्कृत संस्थान, बरेली, 1988

चरक–संहिता : सम्पा. जे. विद्यासागर, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, 1896

जातक माला : आर्यसूरकृत (सं.) एच. कर्न, बोस्टन, 1871, अंग्रेजी अनु., जे. स्पेयर, लन्दन, 1895

जातक : कावेल द्वारा सम्पादित तथा अनूदित, बी.ए. कौषल्यायण द्वारा हिन्दी में अनूदित, 6 भाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1941–1956

दिव्यावदान : सम्पा. ई.बी. कावेल तथा आर.ए. नील, कैम्ब्रिज, 1886

दीघनिकाय : सम्पा. टी.डब्ल्यू. रीज डेविड्स तथा जे.ई. कार्पेन्टर, तीन खण्ड, पा.टे.सो. लन्दन, 1890–1911; टी. डब्ल्यू. रीज डेविड्स द्वारा अंग्रेजी अनु. (डॉयलॉग ऑफ दी बुद्ध), तीन खण्ड, लन्दन, 1899–1921

धम्मपद टीका : सं. एच.सी. नार्मन, पाँच खण्ड, पा.टे.सी., लन्दन, 1906–15; ई.डब्ल्यू. बर्लिगेम द्वारा अंग्रेजी अनु. (बुद्धिष्ट लीजेन्ड्स), तीन खण्ड, ह.ओ.सी., कैम्ब्रिज, मैसाचूसेट्स, 1921

बुद्धचरित : अष्वघोषकृत, (सं. तथा अनुवाद) ई.एच. जॉनसन, (पंजाब यूनिवर्सिटी ओरियन्टल पब्लिकेषन संख्या 31), लाहौर, 1931

बौधायन गृह्य सूत्र : (सं.) आर. शर्मा, शास्त्री, मैसूर, 1927

बृहज्जातक : वराहमिहिरकृत (अनु.) वी. सुब्रह्मण्यम शास्त्री टिप्पणी के साथ, मैसूर, 1929; (सं.) सीताराम झा, भट्टोत्पल की टीका के साथ, बनारस, 1934

बृहत्संहिता : वराहमिहिरकृत, (सं.) एच. कर्न, बिब्लियोथेका इण्डिका, कलकत्ता, 1865; एच. कर्न, अंग्रेजी अनु. ज. रा.ए.सो., 1870–75; भाग 1–5, लन्दन, 1870–73; (सं.) वी. सुब्रह्मण्यम शास्त्री तथा एम. रामाकृष्ण भटके, अंग्रेजी अनु., टिप्पणी के साथ, दो खण्ड, बंगलौर, 1947

बृहस्पतिस्मृति : के.वी.आर. आयंगर द्वारा पुनर्गठित, गा.ओ.सी. बड़ौदा, 1941; जॉली का अंग्रेजी अनु. से.बु.ई., अष्क्सफोर्ड, 1889

महाभाष्य : पतंजलिकृत, (सं.) एफ. कीलहार्न, तीन खण्ड, बम्बई, 1892–1907

महावस्तु : (सं.) ई. सेनार्ट, तीन खण्ड, पेरिस, 1882–97

महावंष : (सं.) डब्ल्यू. गीगर, पा.टे.सो., लन्दन, 1908; अंग्रेजी अनु. गीगर, (द ग्रेट क्रानिकल्स ऑफ सीलोन), लन्दन, 1912

मत्स्य पुराण : कल्याण अंक वर्ष 59, गीता प्रेस गोरखपुर, 1985

महाभारत खण्ड 1–6 : अनु. पाण्डेय, पं. रामनारायण दत्त शास्त्री, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2016

महाभारत : नीलकण्ठ की टीका सहित, पूना, 1929–33

मत्स्य पुराण ए स्टेडी : अग्रवाल, वी.एस. आल इण्डिया काषीराज ट्रस्ट, वाराणसी, 1963

महाभारत, शान्तिपर्व : एस.के. बेलवलकर क्रिटिकल संस्करण, पूना, 1949–54, दूसरे अध्याय के लिए के.एम. गाँगुली का अंग्रेजी अनु. पी.सी. राय द्वारा प्रकाषित, कलकत्ता, 1884–96

मनुस्मृति : भाषा टीका भट्ट, पं. रामेष्वर, चौखम्बा संस्कृति प्रतिष्ठान, 1990

मनुस्मृति : अनुसंधानकर्त्ता एवं भाष्यकार प्रो. सुरेन्द्र कुमार, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली–7

मानव धर्मषास्त्र (मनुस्मृति) : (सं.) जे. जॉली, लन्दन, 1887; बुलर का अंग्रेजी अनु. से.बु.ई. ऑक्सफोर्ड, 1886; गंगानाथ झा का अंग्रेजी अनु., पाँच खण्ड, कलकत्ता, 1922–29

मालविकाग्निमित्र : कालिदासकृत, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 1950

मिलिन्दपन्हों : (सं.) वी. ट्रेंकार, लन्दन, 1880, टी.डब्ल्यू. रीज डेविड्स अंग्रेजी अनु., से.बु.ई. ऑक्सफोर्ड, 1890–94

मुद्राराक्षस : विषाखदत्तकृत (सं.) के.टी. तेलंग, वी.एस. घटे द्वारा संषोधित, पंचम संस्करण, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1945; आर.एस. पण्डित, अंग्रेजी अनु. (सिग्नेटरिंग), बम्बई, 1944

मृच्छकटिक : शूद्रककृत, बम्बई संस्कृत सीरीज, खण्ड–1, बम्बई, 1896

मनवर्थमुक्तावली : भाषा टीका कुल्लूक भट्ट और उस पर भाषा टीका पं. रविदत्त शास्त्री राजवैद्य, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1946

मैत्रायणी संहिता : सम्पा. नेपाल्डवानश्रोडर, लिपजिंग, 1923

मार्कण्डेय महापुराणम : भूमिका पाठ व संषोधन एवं परिष्कार शर्मा, राजेन्द्र नाथ, सम्पा. सिंह, नागषरण, नाग पब्लिषर्स, दिल्ली, 1984

यजुर्वेद भाष्यम् भाग 1–2	:	भाषा टीका स्वामी दयानन्द सरस्वती और उस पर भूमिका व संषोधन पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, अमृतसरीय रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्थान अमृतसर, 1959
याज्ञवल्क्यस्मृति, वीर मित्रोदय तथा	:	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1930
मिताक्षरा के साथ		
याज्ञवल्क्यस्मृति (विज्ञानेष्वर की	:	हिन्दी व्याख्याकार पाण्डेय उपेषचन्द्र, चौखम्बा
मिताक्षरा सहित)		संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1994
ऋग्वेद भाष्य	:	स्वामी दयानन्द, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
युग पुराण	:	(सं.) डी.आर. मंकद, बल्लभविद्यानगर, 1951
रघुवंष	:	कालिदासकृत, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 1929
रघुवंष	:	सम्पा. पण्डित शंकर, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो, दिल्ली, 1897
राजतरंगिणी	:	कल्हणकृत (सं.) एम.ए. स्टेन, बम्बई, 1892; अंग्रेजी अनु. एम.ए. स्टेन, लन्दन, 1900
ललितविस्तर	:	(सं.) एस. लेफमैन, हले, 1902–8
वषिष्ठ धर्मषास्त्र	:	(सं.) ए.ए. फ्युहरर, बम्बई, 1916
विक्रमोर्वषीयम्	:	कालिदासकृत, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 1942
विचित्रकर्णिकवदनोद्धृत	:	(सं. तथा अनु.) हँस जाग्रेन्सन, लन्दन, 1931
विनयपिटक	:	(सं.) एच. ओल्डेनवर्ग पाँच खण्ड, लन्दन 1870–1883 अनु. द बुक ऑफडिसिरिलन, आई.वी. हार्न, पाँच खण्ड, लन्दन, 1938–52
विष्णुधर्मोत्तर पुराण	:	वेंकटेष्वर प्रेस, बम्बई, 1912
वैष्णव धर्मषास्त्र	:	विष्णु स्मृति (सं.) जे. जॉली, कलकत्ता, 1881, अंग्रेजी अनुवाद, जे. जॉली, से.बु.ई., 7, ऑक्सफोर्ड, 1880
विष्णु पुराण	:	(हिन्दी अनु.) मुनिलाल गुप्त, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि.सं. 1990
वराह पुराण	:	अनु. सिंह–चौधरी नारायण सम्पा. गुप्त, आनन्द स्वरूप, सर्वभारती काषीराज व्यास, वाराणसी, 1983
वामन पुराण	:	अनु. गोपाल चन्द्र सिंह चौधरी नारायण व राय, गंगासागर, सर्वभारती काषीराज व्यास, वाराणसी, 1968
वायु पुराण	:	अनु. त्रिपाठी, रामप्रसाद शास्त्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग–इलाहाबाद, 1987
वाल्मीकि रामायण खण्ड 1–2	:	वाल्मीकि प्रणीत, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2024
विदुर नीति	:	संकलन एवं सम्पादन पं. चतुर्वेदी, ज्वालाप्रसाद, रणधीर प्रकाषन, हरिद्वार, 1996
विष्णु पुराणम् (मूल संस्कृत)	:	संस्कृत टीकाकार स्वामी श्रीधर, सम्पा. पं. थानेष चन्द्र उप्रेति, परिमल पब्लिकेषन, दिल्ली–7, 1986
वृहद्धर्म पुराण	:	सम्पादक शास्त्री, हरिप्रसाद, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1974
शतपथ ब्राह्मण (सायण भाष्य सहित)	:	टीकाकार श्री हरिस्वामी, लक्ष्मी वेंकटेष्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, 1940
शुक्रनीति	:	भाषा टीका सहित शास्त्री पं. गंगाप्रसाद हिन्दू जगत् कार्यालय, शामली मुजफ्फरनगर, 1914

शुक्रनीति	:	व्याख्या व सम्पादन पुरी, डॉ. उमेष ज्ञानेष्वर, रणधीर प्रकाषन, हरिद्वार, 1996
शुक्रनीतिसार	:	व्याख्याकार सरस्वती, स्वामी जगदीष्वरानन्द, ऋषि देवी रूपलाल कपूर धर्मार्थ ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, हरियाणा, 1983
शुक्ल यजुर्वेद संहिता (उव्वट, महीधर	:	हिन्दी व्याख्याकार,
भाष्य सहित)		शास्त्री डॉ. रामकृष्ण, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1992
श्रीमद्भागवत पुराण	:	भाषा टीका, पाण्डेय, पं. रामतेज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली–7, 1991
श्रीमद्भागवतमहापुराणम् खण्ड 1–2	:	गीता प्रेस गोरखपुर, सं. 2033
सामवेद (सायण भाष्य सहित)	:	हिन्दी अनु. शर्मा पं. रामास्वरूप गौड़, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1989
संयुक्त निकाय	:	(सं.) लियन फ्रीयर, पा.टे.सो., लन्दन 1884–98; अंग्रेजी अनु. (बुक ऑफ द किण्ड्रेड सेईग्स) रीज डेविड्स तथा एफ.एल. वुडवार्ड, पा.टे.सो. लन्दन 1917–30
सुमंगलविलासिनी,	:	(सं.) टी. डब्ल्यू. रीज डेविड्स तथा अन्य
दीघनिकाय पर टीका		तीन खण्ड, पा.टे.सो., लन्दन, 1886–1932
सुश्रुत संहिता	:	(सं.) जे. विद्यासागर, तृतीय संस्करण, कलकत्ता, 1889
सौन्दरानन्द काव्य	:	अष्वघोषकृत (सं.) ई.एच. जॉन्स्टन लन्दन, 1928; अंग्रेजी अनु. ई.एच. जॉन्स्टन (नन्द द फेयर), दो खण्ड, लन्दन, 1932
स्टॅडीज इन कौटिल्य	:	कृष्णराव एम.वी., मुन्षीराम मनोहर लाल, नई दिल्ली, 1958
हर्षचरित	:	वाणकृत (सं.) के.पी. परब तथा वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पन्सिकार, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1937
हितोपदेष	:	टीकाकार आचार्य प्रो. चन्द्र प्रकाष, संस्कृति संस्थान बरेली–3, 1990

मुद्राएँ तथा अभिलेख

बरूआ, बी.एम.	:	अशोक एण्ड हीज इन्सक्रिएशन्स, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, 1955
बरूआ. बी.एम.	:	ओल्ड ब्रामी इन्सक्रिएशन्स इन द उदयगिरी एण्ड खण्डगिरी, केव्ज, कलकत्ता, 1929
बसाक, आर.जी.	:	अशोकन इन्सक्रिएशन्स, कलकत्ता, 1959
		:महास्थान स्टोन एल्क इन्सक्रिप्शन्स, एपि., एंडि., XXI, पृ. 85.
बूलर, जी	:	सहगौरा कॉपर प्लेट, आई.ए., 1996, पृ. 261 से आगे
बूलर, जी	:	जगन्नाथ रॉक इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ रूद्रदामन 1, आई.ए. वाल्यूम VIII, पृ. 257
हूल्टज, ई.	:	कॉपर्स इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेरम (इन्सक्रिप्शन्स ऑफ अशोक) न्यू एडिशन, वाल्यूम 1, ऑक्सफोर्ड, 1925
जायसवाल, के.पी. एण्ड बनर्जी आर.डी	:	हाथीगुम्फा केव इन्सक्रिप्शन्स ऑफ खारवेल, एपि. इण्डि., XX, पृ. 72 से आगे
पाण्डेय, आर.बी0	:	अशोक एण्ड हीज इन्सक्रिएशन्स, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, 1955

सेन, ए.सी. : अशोका एडिक्टस, कलकत्ता, 1956

सरकार, डी.सी. : सलेक्ट इन्सक्रिप्शन बियरिंग ऑन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, वाल्यूम, I, कलकत्ता, 1942

उपाध्याय, वी.डी. : ए स्टॅडी ऑफ एंशिएन्ट इण्डियन इन्सक्रिप्शन, दिल्ली, 1961

मिराशी, वी.बी. इन्सक्रिप्शन ऑफ द कलचूरी चेदी एरा, कॉ. ई.ई. 4 (दो भागों में) उटकमंड, 1955

फ्लीट, जे. एफ. : इन्सक्रिप्शन ऑफ अर्ली गुप्त किंग्स कॉ. इं.इं.., 3 लन्दन, 1988

नोली. आर. : नेपालीज इन्सक्रिप्शन इन गुप्त कैरेक्टर, भाग–I, मूल पाठ, रोम 1956

कोनो, एस.. : खरोष्ठी इन्सक्रिप्शन, कॉ.इं.इं.., 2, भाग I, 1929

: लूडर्स लिस्ट ऑफ ब्राहनी इन्सक्रिप्शन (एपिग्राफिका इण्डिका का पूरक, खण्ड–10)

एलन, जे. : कैटलॉग ऑफ द क्वायनस ऑफ द गुप्त डाइनेस्टीज एण्ड ऑफ शशांक किंग ऑफ गौड, लन्दन, 1914

भारतीयेत्तर स्रोत

गाइल्स, एम.ए. : द ट्रैवेल्स ऑफ फा–हियन ऑर रिकॉर्ड ऑफ बुद्धिस्टिक किग्ड्मस, कैम्ब्रिज, 1923

बील, एस. : सि–यू–कि बुद्विस्ट रिकॉर्डस ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, ह्न–साँग की मूल चीनी भाषा से अनुवाद, दो खण्ड, लन्दन, 1906

मैक्क्रिण्डल, जे. डब्ल्यू : एन्शियेट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, वेस्टमिन्स्टर, 1901

लेगे, जे.एच. : रिकार्ड ऑफ द बुद्धिस्टिक किंग्डमस (चीनी भिक्षुक फाहियान का यात्रा विवरण), ऑक्सफोर्ड, 1886

वाट्टर्स. टी. : ऑन यूआन च्वाँग्स ट्रैवेल इन इण्डिया, (सं.) टी.डब्ल्यू. रीज डेविड्स तथा एस.डब्ल्यू. बुशेल, दो खण्ड, लन्दन, 1904, 1905

शोफ, डब्ल्यू.एच. : (अनु) द पेरीप्लुस ऑफ द एरिथ्रियन सी, लन्दन, 1912

सहायक ग्रन्थ सूची

(अ) अंग्रेजी ग्रन्थ

अग्रवाल, वी.एस. : इण्डिया एज. नोन टू पाणिनी, लखनऊ, 1953 इण्डिया एज डिस्क्राब्ड बाई मनु, वाराणसी, 1977

अल्तेकर, ए.एस. : ए हिस्ट्री ऑफ विलेज कम्यूनिटीज इन वेस्टर्न इण्डिया, मद्रास, 1927

: स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियट इण्डिया मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1958

	:	द राष्ट्रकूटाज एण्ड देअर टाइम्स, पूना, 1934
		इकॉनामिक कन्डिशन ऑफ वेस्टर्न इण्डिया (ड्यरिंग 200 ई.पू. टू 500 ई.) इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1951
आढ्य, जी.एल.	:	अर्ली इण्डियन इकॉनामिक्स, बम्बई, 1936
		(स्टडीज इन द इकॉनामिक्स लाइफ ऑफ नार्दन एण्ड वैसटर्न इण्डिया, 200 ई.पू. से 300 ई. तक, बम्बई, 1966
आयंगर, के.वी. आर.	:	आस्पेक्ट्स ऑफ एन्शियेन्ट इण्डियन इकौनामिक थॉट (मनीन्द्रचन्द लेक्चर्स, 1927, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय), बनारस, 1934
गोपाल एम.एच.	:	मौर्यन पब्लिक फाइनेन्स, लन्दन, 1935
गोयल, एस.आर.	:	कौटिल्य एण्ड मेगस्थनीज, मेरठ, 1993
घोषाल, यू.एन.	:	हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पॉलिटिकल थियोरीज, कलकत्ता, 1923
	:	ए एग्रेरियन सिस्टम इन एन्शियेट इण्डिया, कलकत्ता, 1930
	:	द बिगिनिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्टोरियोग्राफी एण्ड अदर एसेज, कलकत्ता, 1944
	:	कन्ट्रीब्यूशन्स टू द हिस्ट्री ऑफ हिन्दू रेवेन्यु सिस्टम, कलकत्ता, 1929
	:	ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पब्लिक लाइफ, वाल्यूम–2, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1966
चक्रवर्ती, रणबीर	:	ट्रेड एण्ड ट्रेडर्स इन अर्ली इण्डियन सोसाइटी मनोहर पब्लिसर एण्ड ड्रिस्ट्रीब्यूटर, नई दिल्ली, 2002
चाल्सवर्थ, एम.पी.	:	द रोमन एम्पायर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1951
जायसवाल, के.पी.	:	मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, कलकत्ता, 1930
जैन, जे.सी.	:	लाइफ इन एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिपिक्टेड इन द जैन कैनन्स, बम्बई, 1947
झा, गंगानाथ	:	नोट्स ऑन मनुस्मृति, तीन खण्ड, कलकत्ता 1924–29
झा. डी.एन.	:	रेवेन्यु सिस्टम इन पोस्ट मौर्यन एण्ड गुप्ता टाइम्स, कलकत्ता, 1967
डाल्टन	:	प्रिन्सिपल ऑफ पब्लिक फाईनेन्स, रूटलेग एण्ड केशन पाउल लि., लंदन, 1957
टाउटेन, जे.	:	इकोनामिक लाइफ ऑफ द ऐश्येन्ट वर्ल्ड, न्यूयार्क, 1930
थापर, रोमिला	:	अशोक एण्ड द डिक्लाइन ऑफ मौर्याज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1961
	:	हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, खण्ड–I, पैलिकन, 1966
दाँडेकर, आर.एन.	:	हिस्ट्री ऑ द गुप्ताज, पूना, 1941
दास, शुक्ला	:	सोसियो–इकॉनॉमिक लाईफ ऑफ नार्दन इण्डिया (550 ई. से. 650 ई.)

		अभिनव प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980
दास, संतोष कुमार	:	द इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ एन्शियट इण्डिया बोहरा पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, इलाहाबाद, 1980
दीक्षितार, वी.आर.आर.	:	हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इनस्टीटयूशन्स मद्रास, 1929
	:	मौर्यन पॉलिटी, मद्रास, 1932
नाथ, प्राण	:	ए स्टेडी ऑफ द इकॉनॉमिक कण्डीशन ऑफ एन्शियेन्ट इण्डिया, लन्दन, 1929
नियोगी, डी.	:	दी इकानामिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दन इण्डिया, कलकत्ता, 1962
निगम, श्याम सुन्दर	:	इकॉनामिक आरगनाईजेशन इन एन्शिन्ट इण्डिया, दिल्ली, 1975
प्रसाद, बेनी	:	थियोरी ऑफ गवर्नमेन्ट इन एन्शियेन्ट इण्डिया, इलाहाबाद, 1927
बोस, ए.एन.	:	सोसल एण्ड रूरल इकॉनॉमी ऑफ नार्दन इण्डिया (600 ई.पू. से 200 ई.) 2 वोल्यूम यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, कलकत्ता, 1942
बनर्जी, पी.एन.	:	पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन एन्शियट इण्डिया, बनारस, 1933
भण्डारकर, डी.आर.	:	सम आस्पेक्ट्स ऑफ एन्शियेन्ट हिन्दू पॉलिटी, बनारस, 1929
मजूमदार, आर.सी.	:	कारपोरेट लाइफ इन एन्शियेन्ट इण्डिया, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, 1922

(ब) हिन्दी ग्रन्थ

अल्तेकर, अनन्त सदाशिव	:	प्राचीन भारत में शासन पद्धति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2001
ओमप्रकाश	:	प्राचीन भारत का इतिहास, राज कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990
अग्रवाल, वासुदेव शरण	:	हर्षचरित–एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, 1953
	:	मार्कण्य पुराण – एक सांस्कृतिक अध्ययन, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद, 1961
उपाध्याय, विभा	:	प्राचीन भारत में भूमिदान, प्रिन्टवेल, जयपुर, 1922
कृष्ण कुमार	:	प्राचीन भारत की प्रशासनिक एवं राजनीतिक संस्थायें, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, 1998
गुप्ता, देवेन्द्रकुमार	:	प्राचीन भारत में व्यापार, कॉलेज बुक डिपोज, जयपुर, 2002
गुप्त, पी.एल.	:	गुप्त साम्राज्य, वाराणसी, 1991
गोयल श्रीराम एवं शिवकुमार गुप्त (सम्पा.)	:	मगध साम्राज्य का उदय, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा.लि. दिल्ली, 1981
चौधरी राधाकृष्ण	:	प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, पटना, 1986
चानना, देवराज	:	प्राचीन भारत में दास प्रथा, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1989
जैन, जगदीशचन्द्र	:	जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी,

		1965
थापर, रोमिला	:	अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन, अनु.डी. आर. चौधरी, प्रभा यादव ग्रन्थ शिल्पी इण्डिया प्रा.लि. दरियागंज, नई दिल्ली, 1997
दत्त, गीता	:	प्राचीन भारत में बैंक व्यवस्था, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1993
पाण्डेय, चन्द्रभान	:	आन्ध्र सातवाहन साम्राज्य का इतिहास, दिल्ली, 1963
भण्डाकर, डी. आर.	:	अशोक , वाराणसी, सं. 2024
मिश्रा, श्याम मनोहर	:	प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन, इलाहाबाद, 1997
मिश्र, जी.एस.पी.	:	प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थ व्यवस्था, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1983
मिश्र, जयशंकर	:	प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1986
श्रीवास्तव, अशोक कुमार	:	प्राचीन उत्तर भारत में नगरीय आर्थिक जीवन, किताब महल, दिल्ली, 1984
शर्मा, रामशरण	:	प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्यवन निदेशालय, दिल्ली 1993
	:	प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाऐं, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1998
सहाय, शिवस्वरूप	:	प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 2000
त्रिपाठी, डॉ. रामनरेश	:	प्राचीन भारतीय आर्थिक विचार, बोहरा पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, इलाहाबाद, 1981